# गीता सौरभ

डॉ जगन्नाथ शर्मा 'हंस'



# गीतासौरभ

डॉ. जगन्नाथ शर्मा 'हंस'

सन्त निरंकारी मण्डल (रजि.)
सन्त निरंकारी कालोनी
दिल्ली-110 009

| | |
|---|---|
| **First Edition: June 2001** | **5,000 Pcs** |
| **Till now:** | **64,000 Pcs** |
| **30th Edition: Aug. 2022** | **1,000 Pcs** |

प्रकाशक:
सन्त निरंकारी मण्डल
सन्त निरंकारी कालोनी, दिल्ली-110009

मुद्रक: हरदेव प्रिन्टर्स
सन्त निरंकारी कालोनी, दिल्ली-110009

# प्रकाशक की ओर से...

जाने-अनजाने एक परम्परा बन गई है कि प्रकाशित होनेवाली पुस्तक के संबंध में प्रकाशक की ओर से कुछ न कुछ लिखा जाय, उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए सन्त निरंकारी मिशन का प्रकाशन विभाग नम्र निवेदन करता है कि यह पुस्तक 'गीतासौरभ' जिसके लेखक डॉ. जगन्नाथ शर्मा 'हंस' एम.ए, पी.एच.डी., डी. लिट्. हैं, उन्होंने गीता के मर्म को बड़े ही सरल और सरस शब्दों में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। दातार सद्गुरु से हम याचना करते हैं कि यह पुस्तक जिज्ञासुओं के लिए एक पथ-प्रदर्शिका का काम करे। डॉ. साहब किसी प्रशंसा के मोहताज नहीं, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह पुस्तक डॉ. साहब के लम्बे अध्ययन की निष्पत्ति है। आशा की जाती है कि पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे।

दासानुदास
**'सत्यार्थी'**

# भूमिका

गीता पढ़ने, सुनने और सुनाने वाले तो आज भी बहुत हैं, किन्तु अर्जुन की तरह समझने वाले कितने हैं, जो सुनकर कह सकें कि "मेरा मोह नष्ट हो गया, अपना सहज स्वरूप प्राप्त करके मैं उसमें स्थित हो गया हूँ" (18/73)। हमारी स्थिति ऐसी क्यों नहीं होती? हम कहाँ गलती करते हैं? आईए, इस पर विचार करें।

अगर कोई 'श्रवण कुमार' की कथा पढ़-सुनकर यह अर्थ लगाए कि मुझे श्रवण की तरह श्रवण के माता-पिता की सेवा करनी हैं, तो कितना अनुचित हैं। इसी प्रकार गीता या भागवत पढ़-सुनकर हम अर्जुन और गोपियों की तरह साकार भगवान श्री 'कृष्ण' की और रामचरितमानस पढ़-सुनकर साकार श्री "राम" की भक्ति करने का प्रयास करें, तो क्या यह उचित होगा? गोपियों और अर्जुन ने राम की भक्ति क्यों नहीं की, कृष्ण की ही क्यों की? हनुमान, भरत आदि नें कृष्ण की भक्ति क्यों नहीं की, राम की ही क्यों की? सीधी सी बात है कि भक्ति के लिए भाव एवं बोध निराकार ब्रह्म का और आधार समकालीन साकार संत या सद्‌गुरु का ही चाहिए। अतीत के महापुरुषों, संतों, सद्‌गुरुओं से न हम ज्ञान ले सकते हैं और न उनकी भक्ति या सेवा ही कर सकते है। अपने समय के वर्तमान सद्‌गुरु से ही प्रश्नों के द्वारा शंका समाधान करके हम अर्जुन की तरह ब्रह्मानुभव कर सकते है, और फिर उसी की भक्ति करनी चाहिए।

गीता का दावा है कि ज्ञान ग्रन्थों-पंथों या अन्य साधनों से सम्भव नहीं, संतों से होता है (4/34)। परमात्मा की कृपा जिस गुरु के माध्यम से हो, वही भगवान है। 'गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मैः श्री गुरवे नमः' इसका प्रमाण है। आदि

शंकराचार्य इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'गुरुचरणाम्बुज निर्भर भक्तिः' जय जगदीश हरे की आरती में हम रोज़ गाएंगे कि 'संतन की सेवा', किंतु सेवा और भक्ति अतीत के शरीरों की करना चाहते हैं, जो सर्वथा असम्भव है। भगवान गीता में स्वयं कहते हैं कि शरीर का आभास तो बीच में ही दिखाई देता है, पहले और पीछे तो यह निराकार ही होता है (2/28) और भक्ति को साकार का सहारा भी चाहिए, जो समकालीन सद्गुरू (संत) का ही सम्भव है। कहा भी है—

**भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु, चतुर्नाम वपु एक।**
**इनके पद वंदन किए, नासें विघ्न अनेक।।**

अर्थात् इन चारों के नाम ही चार हैं, शरीर तो एक ही सबका सच्चिदानंद स्वरूप ही है। अतः समकालीन साकार सद्गुरु की ही भक्ति हमें करनी चाहिए, तभी गीता-ज्ञान स्पष्ट होगा।

गीता का पाठ संस्कृत में करते हुए मुझे कुछ कठिनाई का अनुभव होता था। मन में आया कि सरल हिन्दी में इसका ऐसा काव्यानुवाद कर लूँ, जो सरल-सुबोध भी हो और मूल गीता के विचार और सब भाव भी ज्यों के त्यों बने रहें। अतः यह मैंने अपनी आसानी के लिए दस वर्ष पहले करके रखा हुआ था। 13 नवम्बर, 1993 को पिताजी और 13 मई, 1994 को पूजनीय माता जी, यानी छह महीने में दोनों दिवंगत हो गए। मन में बहुत निर्वेद-भाव हो रहा था, तो मैं इसका पाठ करने बैठ गया। सुनकर एक मित्र ने कहा कि "इसे छपा दें तो अनेक पाठक इसका लाभ उठा सकते हैं और आपका यह कार्य 'सारस्वत यज्ञ' बन जाएगा।" मुझे याद आया कि मूल गीता का जन्म भी अर्जुन के निर्वेद भाव में ही हुआ था, तो क्यों न इस काव्यानुवाद का प्रकाशन भी अभी करा दिया जाए। उसी का परिणाम यह 'गीतासौरभ' आपके हाथों में है।

मुझे सन्त निरंकारी मिशन में आकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हुई। उसके पश्चात् गीता से मुझे बहुत लाभ मिला है। ब्रह्मज्ञान की पुष्टि हुई इसके बतलाए

मार्ग पर चलकर मैं कृतकृत्य और विदितवेदितव्य हुआ हूँ। इससे पाठकों को भी यदि लाभ हुआ तो इसकी सफलता और उन पर प्रभु-कृपा ही समझी जाएगी। इसके कई संस्करण बाहर से छप चुके हैं। अब इसे आंशिक रूप से भावार्थ सहित नए रूप में संत निरंकारी मण्डल प्रकाशित कर रहा है। इससे महापुरुषों का आशीर्वाद भी अनायास ही मिल जाएगा। एतदर्थ धन्यवाद।

भक्तहृदय श्रीमती एम.पी. 'अस्थाना', ब्ल्यू बेल कॉलिज, लखनऊ ने अपनी अमूल्य सम्मति और सहयोग प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया है। एतदर्थ उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता करने वाले सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार निवेदित करता हूँ। अन्त में 'त्वदीय वस्तुं गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' (हे परमात्मन, तेरी वस्तु तुझे ही समर्पित करता हूँ)।

निवेदक

**डॉ. जगन्नाथ शर्मा 'हंस'**

# 1–जीव की चिन्ता

यह दुनिया दुःखों का घर है । युगपुरुष अवतार सिंह जी महाराज के अनुसार "दरदाँ दी इस दुनिया अन्दर हंजुआँ बरगा हासा बणयै" अर्थात् इस दर्द भरी दुनिया में सुख भी आँसू से भरा है । यहाँ क्रीड़ा में भी पीड़ा छिपी है और तथाकथित सुख भी आँसुओं का दास बनकर रह गया है । मानव समझता है कि मैं भोग भोग रहा हूँ, जबकि वास्तविकता यह है कि भोग ही रोग बनकर उसे भोग रहे है, दिन–दिन समाप्त कर रहे हैं। सुख से समय नहीं गुज़र रहा है, बल्कि हम ही गुज़र रहे हैं, पल–पल मर रहे हैं । बीमारी और बुढ़ापा तो दुःखों के साक्षात् रूप हैं और मृत्यु नामक महादुःख से सबको गुज़रना पड़ता है । सबके सिर पर मृत्यु की तलवार लटक रही है, तो यहाँ कौन सुखी रह सकता है । ऐसे ही दुःखी जीव का वर्णन एक उदाहरण से देखिए ।

पाँव फिसलने से कोई व्यक्ति कुएं में गिरने लगा, तो उसने एक झाड़ी अपने दोनों हाथों से कसकर पकड़ ली । झाड़ी का मूल मजबूत था, जिससे वह नीचे नहीं गिरा और उस झाड़ी ने सँभाल लिया । नीचे झाँककर देखा तो कुएं में एक काला सर्प फन फैलाए उसकी प्रतीक्षा कर रहा था कि यह गिरे तो मैं इसका काम तमाम कर दूँ । एक काला और एक सफेद, दो चूहे आकर उस झाड़ी का मूल काटने लगे । देखते ही देखते मूल आधा कट गया और उस व्यक्ति की चिन्ता और भय भी बढ़ने लगे। आप ही सोचिए उस व्यक्ति की चिंता, तनाव और डिप्रेशन कितने बढ़ गये होंगे । यही कहानी आज के मानव की है । वह माया के कुएं में लटका है, जहाँ मौत का सर्प उसे मारने हेतु प्रतीक्षा कर रहा है । अपनी आयु की झाड़ी उसने पकड़ रखी है, जिसे रात–दिन

के दो श्याम-श्वेत चूहे रोज काट रहे हैं । किसी की आयु आधी कट चुकी है और किसी की आधी से भी अधिक । अपनी और अपने सम्बन्धियों की मौत की चिंता सबको खाए जा रही है । कुरुक्षेत्र की रणभूमि में वीरवर अर्जुन को भी ऐसी ही चिंता ने घेर लिया था । यहीं से गीता का आरम्भ होता है । अर्जुन का मोहजनित विषाद मानव मात्र का विषाद है ।

**तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।**
**आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।**

– गीता 1/26

काव्यानुवाद-

**दादा-मामा अरु-गुरभाई। पौत्र-मित्र-सुत-सेन सुहाई।**
**ससुर सुहद दोनों दल मांही। निज परिवार और कोई नाहीं॥**

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्यस कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्। –1/27

**सम्बन्धी सारे निज जाने। उन्हें देख मन में अकुलाने।**
**मोहमय मन अर्जुन का डोला। चिंतासुर तब पारथ बोला॥**

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥28॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥29॥

काव्यानुवाद-

**सुनो कृष्ण तुम प्राण पियारे।**
**खड़े यहां सब हितू हमारे॥**
**देखा दल निज नयननि जैसा।**
**इनको देख हाल हुआ ऐसा॥**
**टूटें अंग और मुख सूखा।**

**धीरज दलित दीन दिल दूखा ॥**
**कंपित काय जलन जिय जागी।**
**भा रोमांच शांति सब भागी ॥**

**भावार्थ :** पाण्डवों के शिविर में पहले ही पता था कि कौन किसकी तरफ से लड़ेगा। दोनों दलों की सूची दोनों शिविरों के पास थी। अतः अर्जुन जब लड़ने के लिए चला था, तब ही उसे पता था कि कौरवों की तरफ से कौन-कौन कुरुक्षेत्र में युद्धार्थ आए हैं, परन्तु सुनने में और देखने में बड़ा फर्क होता है । यहाँ विशाल सेना को देखकर अपने समय का श्रेष्ठ वीर अर्जुन भी घबराने लगा और कर्मक्षेत्र (युद्ध) से भागने के लिए तरह-तरह की युक्तियाँ ढूँढने लगा । भगवान कृष्ण से कहने लगा कि-

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शकोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः । 1/30

काव्यानुवाद-

**गाण्डिव धनुष हाथ से छूटे।**
**जलता तन-मन हिरदा टूटे।**
**खड़ा रहूँ यह शक्ति नाहीं।**
**धीरजगत बहु भ्रम मन माहीं।**

**भावार्थ :** जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा भवन में बैठकर कम्पित हो जाता है, उस के हाथ से कापी और पर्चा छूट कर गिरने लगते हैं तथा वह अत्यन्त निराश और भ्रमित हो जाता है, ऐसी ही हालत अर्जुन की हो रही थी ।

**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।**
**न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे । 1/31**

काव्यानुवाद-

**लक्षण भी विपरीत सब, सुनो बात यदुराय ।**
**स्वजन मार सुख ना मिले, दोनों लोक नसाय ॥**

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा । 1/32

काव्यानुवाद–

**कृष्ण, विजय की इच्छा नांही।**
**राज्य लालसा नहिं मन मांही॥**
**राज्य–सुखों से क्या प्रयोजन?**
**भोगी जीवन भी क्या जीवन?**

अर्जुन के मन में यह निर्वेद भाव या वैराग्य–भावना भय और मोह से उत्पन्न हुई है । अतः यह ज्ञानियों का वास्तविक वैराग्य नहीं, बल्कि बनावटी वैराग्य है । भगवान कृष्ण ने अर्जुन को इस अवस्था में देखा ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकूलेक्षणम ।
विशीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः । 2/1

काव्यानुवाद–

**दुखी दीन अर्जुन अस देखा।**
**झलका नीर नयन की रेखा ॥**
**राजन्, तब यह बचन अमोले।**
**मधुसूदन पारथ से बोले ॥**

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन । 2/2
कैल्बयं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तवोत्तिष्ठ परंतप । 2/3

काव्यानुवाद-

**अर्जुन, असमय में यह मोहा।**
**हुआ कहां से दुख-सम्मोहा॥**
**महापुरुषों को जो नहीं आए।**
**स्वर्ग-कीर्ति को नहीं लाए॥**
**पारथ, कायरता क्यों धारे?**
**तेरे योग्य नहीं यह प्यारे॥**
**मन की दुर दुर्बलता त्यागो।**
**उठो, युद्ध से यूं मत भागो॥**

अर्जुन अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहता है-

गुरुनहत्वा हि महानुभावान् ।
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव ।
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् । 2/5

**द्रौण भीष्म गुरु जन जिय जानूं।**
**कैसे इन पर सर संधानूं॥**
**पूजनीय अति हितू हमारे।**
**कौन अभागा इनको मारे॥**
**गुरुजन महापुरुष बिनु मारे।**
**भिक्षा-भोजन उचित हमारे॥**
**धन हित हत इन गुरुवर लोगा।**
**रुधिर-सने क्या भोगूँ भोगा॥**

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः 2/6

काव्यानुवाद–

**असमंजस में बुद्धि हमारी।**
**हम जीतें या ये बलकारी॥**
**जन्हें मार नहीं चाहें जीना।**
**सम्मुख कौरव खड़े अदीना॥**

**भावार्थ :** अर्जुन पहले कहते थे कि मेरे रिश्तेदार हैं, इनसे कैसे लड़ूँ ? अब वह पराजय के भय की बात कहते हैं । अर्जुन–विषाद के यही दो कारण हैं– मोह और भय । ये दोनों ही दुख के कारण हैं और उनकी समाप्ति आत्मज्ञान से ही होती है । यह तत्वज्ञान ही गीता का मुख्य लक्ष्य है ।

मोह और भय प्रायः सभी जीवों के दुःख का कारण है। भय मृत्यु का होता है और मोह प्रायः परिवार और सम्बन्धियों का ही होता है, जिसके कारण मनुष्य पक्षपात और अन्यायपूर्ण कार्य किया करता है तथा दुःखों में घिर जाता है । तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि–

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला ।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥

इसी दुःखद मोह का महारोग अर्जुन के मन में हो गया है और इसी से छुटकारा पाने के लिए, अपने मन का तनाव दूर करने के लिए वह अपने समय के तत्ववेत्ता श्रीकृष्ण के समक्ष समर्पण करता है ।

## 2–समर्पण

निरंकारी बाबा अवतार सिंह जी महाराज द्वारा रचित अवतार वाणी, में कहा गया है कि–

**गुरसिख का बस एक काम है,**
**आपा अर्पण कर देवे ।**
**कहे 'अवतार' फिर काम गुरु का,**
**खाली झोली भर देवे ॥**

अर्थात् (मोह जनित भय और अनेक दु:खों को दूर करने के लिए) शरणागत शिष्य का केवल एक ही काम (कर्तव्य) है कि अपने समय के तत्वेत्ता सत्य के ज्ञाता के चरणों में अपना तन, मन, धन निष्कपट भाव से समर्पित कर दे । इसके अतिरिक्त उसका कोई कर्तव्य नहीं । फिर तो महात्मा का काम है कि वह अपने समर्पित जिज्ञासु शिष्य की खाली झोली भर देता है। अर्थात् उसको तत्व ज्ञान की दीक्षा देकर उसके मोह को समूल नष्ट कर देता है, जिससे शिष्य के मोह जनित सभी शोक और भय समाप्त हो जाते है । यही मार्ग अर्जुन अपना रहे है ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:
पश्च्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता: ।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। 2/7

काव्यानुवाद–

**कायरता से नष्ट स्वभावो।**
**तुम से पूछूं मुझे बताओ ॥**
**जिस विधि हो कल्याण हमारा।**
**दुस्तर भव सागर हो पारा ॥**

**निश्चित धर्म कर्म वर भाखो।**
**हूँ तब शिष्य शरण में राखो॥**

**भावार्थ :** अनेक वर्षो तक साथ रहने पर भी आज ही अर्जुन ने स्वयं को शिष्य और कृष्ण को गुरु स्वीकार किया है । संसार से निराश, भयभीत और कम्पायमान व्यक्ति ही प्रायः गुरु की शरण में पहुंचता है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अर्जुन कृष्ण जी के भाई बलराम जी की सगी बहन सुभद्रा के पति थे, अतः दोनों का सम्बन्ध भी साले-बहनोई का था, परन्तु किसी से आत्मज्ञान प्राप्त करना हो तो रिश्तेदारी अलग रखकर शिष्य-भाव से समर्पण करना पड़ता है, जैसे यहाँ अर्जुन ने किया है । अपने इसी समर्पण-भाव तथा शोचनीय अवस्था को और अधिक स्पष्ट करते हुए, वे आगे कहते हैं कि-

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्रमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥2/8॥

काव्यानुवाद-

**राज्य बड़ा भारी पा जाऊं ।**
**चाहे देवराज बन जाऊं ॥**
**जो चिंता मम प्राण सुखाए ।**
**यह पापिन फिर भी नहीं जाए ॥**

**भावार्थ :** आत्मज्ञान के अधिकारी व्यक्ति में कुछ वैराग्य भावना पहले उत्पन्न हो जाती है । तभी तो अर्जुन कह रहे हैं कि देवराज इन्द्र के समान धन-दौलत और राज-पाट प्राप्त करके भी व्यक्ति को सुख नहीं मिलता, क्योंकि उसे अपने और अपने सम्बन्धियों के मरने का भय और चिंता सदैव सताती रहती है। इसलिए धन-दौलत और राज्य से मेरी चिंता समाप्त होने वाली नहीं। संसार को मिथ्या मानकर यथायोग्य व्यवहार करना ही वास्तविक वैराग्य है । कर्म से भागना वैराग्य नहीं ।

आत्मज्ञान के लिए घर छोड़ कर भिक्षा मांगने का विचार भी अर्जुन के मन में आया था । यहाँ भी कर्म से मुंह मोड़कर वे युद्ध न करने की घोषणा करते हुए आगे कहते है कि-

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥9॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥10॥

काव्यानुवाद-

**इस प्रकार निज हृदय खोला।**
**श्रीकृष्ण से पारथ बोला ॥**
**युद्ध करूं नहीं हे बनवारी!**
**इतना कह खामोशी धारी ॥9॥**
**जहँ दोउ दल दुख पारथ पाता।**
**विषम विषाद सभी संघाता॥**
**तहँ अर्जुन से वचन अमोले।**
**मनमोहन मुसकाकर बोले ॥10॥**

**भावार्थ :** अर्जुन अपने क्षत्रिय धर्म के विपरीत 'युद्ध नहीं करूंगा' यह कहकर खामोश हो गए, क्योंकि अनेक तरह के भय उनके मन में पैदा होकर उन्हें डरा रहे थे और वे डर-डर कर कायर हो गए थे । उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि कायरता के दोष से मेरा स्वभाव नष्ट हो गया है । यानि कई प्रकार के भय मुझे डरपोक बना रहे हैं ।

सम्बन्धियों के मरने का भय, अपनी हार का भय, कुल-नारियां दूषित होने का भय, वर्णसंकर संतान उत्पन्न होने का भय, पिण्डदान आदि परम्पराएं लुप्त होने का भय, इत्यादि अनेक प्रकार के भय उसे भयभीत कर रहे है । आत्मज्ञान के बिना हर आदमी को इसी प्रकार के भय डराते रहते हैं ।

भगवान कृष्ण के समक्ष समर्पण करने पर भी अर्जुन का भय दूर नहीं हुआ, क्योंकि किसी महात्मा के समक्ष केवल समर्पण से ही भय दूर नहीं होता । हां, यदि वह महात्मा कृपा करके तत्व ज्ञान का उपदेश (दीक्षा) प्रदान कर दे और शिष्य को तत्ववेत्ता गुरु की कृपा से आत्मदर्शन या ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाए, तो सभी प्रकार के भय अवश्य दूर हो जाते हैं । अर्जुन अब भी डरे हुए हैं । इसका प्रमाण यह है कि वे पलायनवादी होकर, कर्म से मुंह मोड़ रहे हैं और बिल्कुल खामोश होकर बैठ गए हैं तथा कुछ भी नहीं कह पा रहे हैं ।

अर्जुन के मन में जो भय का भाव है, वही उसने खोलकर अपने सद्गुरु श्री कृष्ण के सामने सच सच बता दिया है, कुछ कपट नहीं किया है, कुछ छिपाया नहीं । इस प्रकार दिल खोलकर सच बोलने वाले सरल हृदय अर्जुन ने निष्कपट भाव से समर्पण किया है । इसी प्रकार समर्पित होने वाला शिष्य ही तत्व ज्ञान (दीक्षा) का अधिकारी होता है ।

अर्जुन का शाब्दिक अर्थ भी यही है कि आर्जवता है जिसके हृदय में, वह अर्जुन, यानि सरल हृदय । अर्जुन का यही भाव देखकर भगवान कृष्ण ने उन्हें तत्वज्ञान की दीक्षा दी, जिसकी चर्चा गीता के अगले श्लोकों में है ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ 18 अक्षोहिणी सेना मरने-मारने को तैयार खड़ी है और युद्ध का बिगुल बजते ही खून की नदियां बहने वाली हैं, ऐसे भयानक समय और स्थान पर भी निहत्थे कृष्ण मुस्कुरा रहे हैं । प्रहसन्निव यानि हंसते हुए से हैं। दूसरी ओर अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वीर महारथी अर्जुन के भी छक्के छूट रहे हैं और वे डर कर उदास बैठे हैं । यह अन्तर तत्वबोध का है । अर्जुन को अभी सत्य का बोध नहीं हुआ है, इसलिए डर कर खामोश बैठा है, परन्तु भगवान कृष्ण चूँकि ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्म रूप महात्मा है, योगेश्वर है, अतः मुस्करा रहे हैं ।

यहाँ तक गीता में इतिहास की चर्चा ही विशेष रूप से की गई है । यहाँ से आगे, यानि दूसरे अध्याय के 11वें श्लोक से गीता का दार्शनिक पक्ष प्रारम्भ होता है, जो सबके लिए इतना ही उपयोगी है, जितना अर्जुन के लिए ।

कुछ विद्वानों ने, यहाँ तक के इतिहास का भी प्रतीकात्मक (Symbolic) अर्थ करके कहा है कि गृहस्थ अथवा संसार (माया) का कुरुक्षेत्र तो सबको ही जीतना पड़ता है । मोह (धृतराष्ट्र) का पुत्र लोभ (दुर्योधन), कपट (शकुनि) (दुःशासन) आदि से सबका पाला पड़ता है । अगर अर्जुन की तरह अपने जीवन-रथ की डोर सद्‌गुरु को सौंप दें, तो जीत निश्चित हो जाती है और कर्म करता हुआ मनुष्य भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर जीवन-मुक्ति को उपलब्ध कर लेता है । जो इस प्रकार सत्य के ज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु (समकालीन अवतारी महापुरुष, योगी अथवा महात्मा) को समर्पित नहीं होते, वे इस जन्म में ही कौरवों की तरह रो-रोकर दम तोड़ देते हैं।

## 3–जीवात्मा

शरीरों के बन्धन में पड़ा आत्म तत्व ही जीव अथवा जीवात्मा कहलाता है, जो अज्ञान के कारण चौरासी लाख योनियों में भटकता आवागमन के कष्ट भोगता रहता हैं । प्रभु कृपा से जब इसे मानव का शरीर मिल जाता है, तो आवागमन समाप्त करने का मानो स्वर्ण अवसर मिल जाता है । सद्‌गुरु की कृपा से अपने मूल स्वरूप आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करके यह जीवनमुक्त हो कर चौरासी के चक्र से निज़ात पा सकता है ।

गीता (7/3) में कहा गया है कि–

**"मनुज़ हज़ारों में कोई कोई।**
**यत्नशील हरि के हित होई ॥**
**उनमें भी अति अल्प बखाने।**
**तत्वरूप जो मुझको जाने ॥"**

इस प्रकार का संयोग मिलने पर ही जीव तत्वज्ञान प्राप्त कर जीवनमुक्ति प्राप्त कर सकता है । उल्लेखनीय है कि जीवनमुक्त ही विदेहमुक्त होता है, यानि शरीर त्यागने के बाद आवागमन से मुक्ति प्राप्त करता है ।

अर्जुन को ऐसा ही सुखद संयोग मिला है । जीवात्मा सम्बन्धी मूक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान नाशवान शरीरों और अविनाशी जीवात्मा का भेद स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि–

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥18॥

काव्यानुवाद-

**नाशवान ये सकल शरीरा।**
**अविनाशी इक चेतन धीरा ॥**
**इसी एक का सकल पसारा।**
**करो युद्ध हे कुन्तिकुमारा ॥18॥**

**मूलार्थ :** इस अविनाशी, अप्रमेय (अतर्क) सदा रहने वाली जीवात्मा के ये सारे शरीर (जड़-चेतन सभी) नाशवान कहे गए हैं । अतः हे भरतवंशी अर्जुन, तू युद्ध कर (अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म का त्याग मत कर) ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥19॥

काव्यानुवाद-

**जो कोई कहे चेतन यह मारे।**
**दूजा कहे मरता यह प्यारे॥**
**ना यह मरता ना यह मारे।**
**ना समझे दोउ अज्ञ बिचारे ॥19॥**

**मूलार्थ :** जो इस जीवात्मा को मरने वाला या मारने वाला समझता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि न यह मारता है और न मारा जाता है । (जीवात्मा अविनाशी परमात्मा का अभिन्न अंश होने के कारण नाम रूप और क्रिया से भिन्न है)

**भावार्थ :** अजर-अमर अविनाशी होने के कारण यह मरता नहीं और सारे शरीर इसी एक के हैं, फिर यह मारेगा भी क्यों और किसको ? वास्तव में मरना-मारना शरीरों के कर्म है, आत्मा का इनसे क्या सम्बन्ध ?

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥20॥

काव्यानुवाद-

**ना यह जनमें ना यह मरता। अज अव्यय न सत्ता धरता।**
**सदा सनातन अरु इक रंगा। देह मरे, यह रहे अभंगा॥**

**मूलार्थ :** यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है, न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता ।

**भावार्थ :** जड़ शरीर के छह विकार-1. जन्म लेना, 2. अस्तित्व रखना, 3. बढ़ना, 4. बदलना, 5. घटना (कम होना) और 6. मरना-ये आत्मा में नहीं क्योंकि आत्मा एकरस अविनाशी और अपरिवर्तनशील है । साकार शरीरों के नाश होने पर भी इस आत्मा का नाश इस प्रकार नहीं होता, जैसे साकार बल्बों के फ्यूज होने पर निराकार बिजली फ्यूज नहीं होती, बल्कि वहीं दूसरे बल्बों में प्रकाशित हो उठती है ।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।29।

काव्यानुवाद-

**जो इस अविनाशी को जाने।**
**अज अव्यय यह ब्रह्म पिछाने॥**
**पारथ, फिर किसको यह मारे?**
**किस पर प्रहार करे संहारे? ॥21॥**

**मूलार्थ :** हे अर्जुन, जो इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा एवं अव्यय (अपरिवर्तनशील) जानता है, वह व्यक्ति कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ?

**भावार्थ :** मरना, मारना, मरवाना आदि जड़ देह के धर्म और परिवर्तन, चेतन आत्मा में अध्यारोपित कर लिए गए हैं अर्थात मान लिए गए है, वास्तव में आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

तो फिर मरता कौन है ? इसका उत्तर श्रीकृष्ण देते हैं–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।22।

**काव्यानुवाद–**

**जैसे जीर्ण वस्त्र नर तारे। नए वस्त्र फिर तन पर धारे।**
**तैसे तज जिव जीर्ण सरीरा। पुनि नव नव देह धारे धीरा॥**

**मूलार्थ :** जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतार कर दूसरे नए वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़ कर नए शरीरों को प्राप्त होता है।

**भावार्थ :** जैसे माता बच्चे के पुराने कपड़े उतारकर जब नए पहनाती है, तो कई अज्ञानी बच्चे रोने लगते है, परन्तु माता बच्चे की भलाई के लिए उसके रोने की परवाह किए बिना उसके कपड़े बदल ही देती है । ऐसे ही अज्ञानी के रोने पर भी भगवान भलाई हेतु शरीर बदल देते हैं । ज्ञानी तो इस स्थिति में रोते ही नहीं। हां, अज्ञानी को जब तक तत्व बोध नहीं होगा, वह इस प्रकार के शरीर बदलता रहेगा और रोता रहेगा ।

अब अगले तीन श्लोक अन्य प्रकार से इस जीवात्मा की नित्यता, निराकारता और निर्विकारता पर प्रकाश डालते हुए उसके विनाश की आशंका से शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥23॥

काव्यानुवाद–

**शस्त्र इसे कोइ काट न पाए।**
**अगनी इसको नहीं जलाए ॥**
**जल भी इसको नहीं गलाए।**
**और पवन भी नहीं सुखाए॥23॥**

**मूलार्थ :** इस आत्मतत्व को शस्त्र नहीं काट सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती।

**भावार्थ :** शस्त्रों द्वारा शरीरों के कटने पर, आग से जलने पर, पानी से शरीरों के गलने और वायु से सूखने पर भी आत्मा ज्यों की त्यों रहती है । यह अथवा इस शब्द का प्रयोग होने से सिद्ध है कि भगवान तो आत्मातत्व को देखकर (अपरोक्ष अनुभव करके) कह रहे हैं, परन्तु अर्जुन को यह दिख नहीं रहा है, अतः आश्चर्य से इसके गुण सुन रहे हैं ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥26॥

काव्यानुवाद-

**नाशवान यदि इसको जाने।**
**जन्म-मरण इसका नित माने॥**
**तब भी सोक जोग नहीं ताता।**
**सुन सच भाव भ्रात मम बाता॥**

**मूलार्थ :** परन्तु अगर इस आत्मा को तू सदा जन्मने-मरने वाला मानता है, तो भी, हे अर्जुन, तुझे शोक नहीं करना चाहिए ।

**भावार्थ :** अगर तू आत्मा को अविनाशी और जन्म-मरण से रहित मानता है, तो भी दुख का कोई कारण नहीं है, और अगर इसे नाशवान और जन्म-मरण वाला मानता है, तो भी दुख का कारण नहीं । क्यों ? इसका उत्तर अगले श्लोक में देते है-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥27॥

काव्यानुवाद-

**जो जनमा सो मरेगा निश्चय। मरेगा सो देह धरेगा निश्चय ।**
**जिसको टल सके नही कोई। उसके हित कह क्यों दुख होई ॥**

**मूलार्थ :** क्योंकि इस मान्यता के अनुसार भी जन्म लेने वाले का मरण निश्चित है और मरने वाले का पुनर्जन्म निश्चित है, तो भी इस बिना उपाय करने वाले विषय में भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए ।

बिना उपाय वाले विषय का अर्थ है कि जिसे जीव बदल नहीं सकता, जिसमें चारा कुछ नहीं, उसका शोक करने से लाभ क्या ?

यह कथन अज्ञानियों के लिए है, जो आत्मा को जन्म-मरण वाला मानते हैं । तत्वज्ञानी तो जन्म-मरण से छूट जाते हैं ।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।<br>
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥28॥

काव्यानुवाद-

**पहले निराकार सब कोई। और अंत में भी यही होई।**<br>
**बस बिच में तन की परतीती। फिर क्या चिंता ? अति अनीती ॥**

**मूलार्थ :** हे अर्जुन, जन्म से पहले भी सब प्राणी निराकार (अप्रकट) थे और मरने के बाद भी निराकार हो जाने वाले हैं । केवल बीच में ही प्रकट है । फिर ऐसी स्थिति में भी क्या शोक करना है ?

**भावार्थ :** जैसे स्वप्न दिखाई देने से पहले भी नहीं था और जागने के बाद भी नहीं रहता । केवल बीच में थोड़ी देर के लिए प्रकट होता है । फिर उसके लिए शोक क्या करना ? जागने पर स्वप्न में हुई हानि भी मिथ्या होने के कारण शोकप्रद नहीं । इसी प्रकार जीवात्मा न तो ज्ञान से पहले थी और न ज्ञान के पश्चात् ही दिखाई देती है । तभी तो गोस्वामी जी कहते है कि-

जिनके रहे सदा ज्ञान एकरस ।<br>
ईश्वर जीवहि कहहु भेद कस ?

अर्थात् ब्रह्म में मिलने के पश्चात् जीवात्मा की सत्ता इसी प्रकार समाप्त हो जाती है, जैसे सागर में मिलने के बाद नदी की ''ज्यूँ जल में जल जाय खटाना'' अथवा अवतार बाणी के शब्दों में-

**निरंकार कृपा कर दे तो बंदा इसको देय बना।**
**गुरु मिले तो वो ही बंदा हो जाता है आप खुदा॥**

# 4–आत्मतत्व का वर्णन

आत्मा को यद्यपि अकथनीय कहा जाता है, किन्तु समसामयिक सद्‌गुरु इसका वर्णन संकेत-विधि से करने में सक्षम होता है । वह मिथ्या माया और सत्य आत्मतत्व को भिन्न-भिन्न करके समझा देता है और यदि शिष्य अधिकारी जिज्ञासु और श्रद्धावान होता है, तो इसका वर्णन सुनकर उसके हृदय में 'तत्व-दर्शन' की इच्छा भी उत्पन्न हो जाती है । विवेक (सत्य-असत्य को समझने की शक्ति) केवल मानव में ही होता है, अतः मनुष्य जन्म में ही यह सम्भव है । भगवान सत्य और असत्य (आत्मा और माया) का वर्णन करते हुए अर्जुन को समझाते हैं कि–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥2/16॥

काव्यानुवाद–

मिथ्या माया सत्य न होवे। सत्य वस्तु सत्ता नहीं खोवे ।
ऋषियों ने दर्शन कर जाना। सत्यासत्य - तत्व पहचाना ।।

अर्थात् सत्य और असत्य की गम्भीर गवेषणा (विश्लेषण) करके महात्माओं ने यह तत्व देखा कि सत्य का अभाव और असत्य का भाव (अस्तित्व) कभी नहीं होता । अर्थात् सत्य (ब्रह्मतत्व) त्रिकाल सत्य है और मिथ्या (माया) त्रिकाल मिथ्या है । जो इस सर्वव्यापक निराकार ब्रह्मतत्व को जानकर इसमें प्रवेश कर अपने जीवभाव को समाप्त कर देता है, वही सुख प्राप्त करता है । तभी कहा गया है कि–

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥6/28॥

काव्यानुवाद–

**निज निर्मल मन प्रभु से जोड़े। जग–माया से नाता तोड़े ।**
**सुख से परम पदारथ पाए। परमानन्द अनुभव में आए ॥**

**भावार्थ :** अपने आपको सदा परमात्मा में लगाते हुए निष्पाप योगी महापुरुष को सुखपूर्वक ब्रह्मस्वरूप सुख अथवा आत्मिक आनन्द की प्राप्ति हो जाएगी।

ऐसे योगी महात्मा संसार को किस दृष्टि से देखते हैं ? यह आगे बतलाते हैं–

सर्वभूतस्थमान्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगमुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।6/29।।

काव्यानुवाद–

**सब भूतों में आतम देखे । आतम में सब सृष्टि पेखे ।**
**योगयुक्त की दृष्टि ऐसी । सम दृष्टि, जल–उर्मी जैसी ॥**

**मूलार्थ :** सर्वव्यापी अनन्त चेतन निराकार ब्रह्म में सम भाव से एकत्व को प्राप्त हुआ ज्ञानी महात्मा आत्मा को सब में स्थित और सबको आत्मा में देखता है । ऐसा देखने का फल आगे बतलाते हैं ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥6/30॥

काव्यानुवाद–

**मुझ को सब में जो स्थित देखे। सब को मुझ में कल्पित पेखे।**
**उसके हूँ मै सम्मुख ताता। वह भी मुझ को नहीं भुलाता॥**

**भावार्थ :** जो, सबके आत्मा, (परमात्मा) को सब जगह और सब में व्यापक देखता हे और सबको मुझ सर्वात्मा में देखता है। इस प्रकार आत्मा की एकता को देखने वाले उस ज्ञानी के लिए मै

(ईश्वर) कभी अदृश्य नहीं होता और वह ज्ञानी भी कभी मुझ से अदृश्य नहीं होता ।

जैसे पानी सब लहरों में स्थित है और सब लहरें पानी में कल्पित हैं, इसी प्रकार ज्ञानी निराकार ब्रह्म को सबमें स्थित तथा सबको ब्रह्म में कल्पित देखता है । उसकी दृष्टि में सब आत्म स्वरूप ही है ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥6/31॥

काव्यानुवाद–

**सब भूतों में मै हि अकेला। जो देखे ज्ञानी अलबेला ।**
**सबसे यथायोग्य बरतारा। मुझ में सब जाने बिस्तारा ॥**

**भावार्थ :** वह महापुरुष, सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित मेरे साथ एक होकर मेरा (प्रभु का) भजन करता है, इसलिए वह सबके साथ यथोचित बर्ताव करता हुआ भी नित्य निरंतर मेरे में ही स्थित रहता है।

नौ प्रकृतियाँ इस दसवें ब्रह्म को ढँक लेती हैं । अतः सद्गुरु नौ द्वारों को हटाकर इस दसवें द्वार निराकार तत्व का दर्शन करा देता है । अब प्रश्न उठता है कि इन नौ प्रकृतियों (नव द्वारों) का कारण कौन है ? इसका उत्तर आगे देते हैं ।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।7/6।।

काव्यानुवाद–

**जड़–चेतन माया जग धारा। इन दोनों का सकल पसारा ।**
**मै, उत्पन्न और प्रलय रूपा। कारण मूल, सकल सृष्टि का ॥**

**भावार्थ :** मै (निराकार ब्रह्म) ही सारी सृष्टि का मूल कारण हूँ क्योंकि संसार मेरे से ही उत्पन्न होता है और मेरे में ही लीन

होता है (जैसे असंख्य लहरें, बुलबुले, हिमखण्ड आदि जल से ही उत्पन्न होते हैं और जल में ही विलीन होते रहते हैं) ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ 7/7

काव्यानुवाद-

**मुझ से परे और कुछ नाहीं । सारी सृष्टि रहे मुझ मांही ।**
**सूत-प्रसून सूत्र में जैसे । पिरे हुए सब मुझ में ऐसे ॥**

**भावार्थ :** मेरे (ईश्वर के) अलावा दूसरा कोई भी इस संसार का कारण नहीं है । जैसे सूत की बनाई हुई मणियाँ (फूल) सूत के धागे में ही पिरोई जाएं, तो उस माला में सब सूत ही सूत हैं, ऐसे ही सब संसार में मैं ही मैं हूँ (यानि यह संसार मेरे द्वारा, मुझ से ही बना हुआ, मेरे में ही पिरोया हुआ है) ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥7/12॥

काव्यानुवाद-

**त्रिगुण माया का परछावा । सत, रज, तम के जितने भावा ।**
**मुझ से सारे, सब नहि तुझ में । और पार्थ मैं भी नहि उनमें॥**

**भावार्थ :** (और तो क्या कहूँ) जितने भी सात्विक, राजस और तामस भाव है, वे सब मेरे (ईश्वर) से ही होते है- ऐसा समझ, परन्तु फिर भी मै उनमें और वे मेरे में नहीं । यानि मै उनसे सर्वथा अतीत और निर्लिप्त हूँ ।

जैसे जल से भरे अनेक घड़ों में सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक होकर प्रकाश दे रहा हो, फिर भी न सूर्य घड़ों में हैं, और ना ही सजल घड़े सूर्य में है । सूर्य तो एक अतीत और निर्लिप्त है। इसी प्रकार निराकार ब्रह्म है ।

यहाँ तक भगवान कृष्ण (सद्गुरु) ने अपने शिष्य अर्जुन के समक्ष निराकार ब्रह्म का केवल वर्णन किया है । दर्शन नहीं कराया है, क्योंकि जिज्ञासु अर्जुन ने अभी तक तत्व-दर्शन की इच्छा प्रकट नहीं की है । अर्जुन ने आत्म दर्शन की प्रार्थना अध्याय 11 के श्लोक 4 में की है । तत्पश्चात् भगवान ने अपने अविनाशी, विराट निराकार रूप का दर्शन कराया है । कई इसे विश्वरूप का दर्शन कहते हैं, किन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि अर्जुन को भगवान ने विश्व का नहीं, बल्कि अपने अविनाशी, निराकार रूप का दर्शन कराया था और उसे देखकर अर्जुन ने भी कहा था कि मैं सारे विश्व को आपके अन्दर देख रहा हूँ ।

# 5–निरंकार (आत्मतत्व) के दर्शन

ब्रह्म तत्व के निराकार, निर्विकार सत्य, अपरिवर्तनशील, व्यापक, विशाल और उपादेय स्वरूप का वर्णन सुन कर इसे देख़ने की इच्छा अर्जुन ने प्रकट की तो समकालीन सद्गुरु (भगवान श्रीकृष्ण) ने उन्हें अविनाशी विराट रूप दिखाया । इसी का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है– भगवान कृष्ण (सद्गुरु) निराकार अविनाशी रूप का दर्शन कराते हुए कहते हैं कि–

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥11/7॥

काव्यानुवाद–

**अब अर्जुन मम तन में पेखो। सचराचर सब जग को देखो।**
**और भी जो कुछ देखा चाहे । पारथ पेख आज मम माहे॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! मुझ निराकार ब्रह्म के इस अविनाशी शरीर के किसी भी एक अंश में चराचर सहित सम्पूर्ण जगत को तू अभी देख । और भी जो कुछ तू देखना चाहे, तो वह भी देख ले।

**विशेष :** इस श्लोक से पहले कई श्लोकों में भगवान कृष्ण कहते रहे है कि यह देख और वह देख परन्तु अर्जुन को दिखाई कुछ नहीं दिया । न निराकार ब्रह्म और न निराकार में साकार सृष्टि ही दिखाई दी । तब उसके न देख सकने के कारण को जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान कृष्ण अर्जुन को दिव्य दृष्टि देने की इच्छा से कहने लगे–

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥8॥

काव्यानुवाद-

**चर्म चक्षु जो पास तुम्हारे । देख सकें नहीं रूप हमारे ।**
**दिव्यदृष्टि ले कुन्तिकुमारा । तब लख अद्भूत रूप हमारा ॥**

**भावार्थ :** अर्जुन ! तू अपने इन चर्म चक्षुओं से मुझे नहीं देख सकता । मैं तुझे दिव्य दृष्टि या ज्ञानदृष्टि देता हूँ, इससे तू मेरी इस ईश्वर सम्बन्धी सामर्थ्य (निराकार अविनाशी रूप) को देख।

जैसे शरीर में रहने वाला बुखार(ज्वर) चर्म चक्षुओं से नहीं दीखता, परन्तु चिकित्सक थर्मामीटर की आँख से उस निराकार, बुखार को स्वयं भी देख लेता है और रोगी को भी दिखा देता है कि देख, ये है तेरा बुखार और रोगी देख भी लेता है । इसी प्रकार साकार संसार में व्याप्त निराकार ब्रह्म (निरंकार) को सद्‌गुरु ज्ञानदृष्टि (दिव्य दृष्टि) से शिष्य को दिखा देता है और शिष्य देख भी लेता है। यह एक अनुभूत सत्य है ।

अर्जुन ने निराकार ब्रह्म (निरंकार) के दर्शन करके कहा कि-

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हिव्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्टवादभुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥20॥

काव्यानुवाद-

**ग्रह-नक्षत्र बीच के अन्तर । तुझ से ही परिपूर्ण निरंतर।**
**देख भयंकर रूप तुम्हारा । तप्त त्रिलोक न धीरज धारा॥**

**भावार्थ :** यह स्वर्ग और धरती के बीच का अंतराल (फासला) और दसों दिशाएं एक आपसे ही परिपूर्ण हो रही है । आपके इस अदभूत और उग्ररूप को देखकर तीनों लोक (अखिल ब्रह्माण्ड) व्यथित हो रहे हैं । यानि आकाश और धरती तथा इनके बीच में सर्वत्र ब्रह्म (निराकार) पूर्ण है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥38॥

काव्यानुवाद-

**आदिदेव तू पुरुष पुराना। अखिल विश्व का परम निधाना।**
**ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय तुम स्वामी । परम धाम जग अंतर्यामी ॥**

**मूल अर्थ :** आप (परमात्मा) ही आदिदेव और पुराण पुरुष हैं। आप ही इस संसार के परम आधार है । आप ही सबको जानने वाले और जानने योग्य हैं । आप ही सबके परम गन्तव्य स्थान (आखिरी मंजिल) हैं । हे अनंतरूप निरंकार ! आपसे ही सारा संसार व्याप्त है।

निरंकार के दर्शन से पूर्व संकीर्णतावश किए गए संकीर्ण व्यवहार के प्रति शिष्य आत्म ग्लानि का अनुभव करता है। क्षमा याचना के द्वारा पश्चाताप करते हुए ऐसा प्रयास करता है कि सद्‌गुरुदेव उसे क्षमा कर दें।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥44॥

काव्यानुवाद-

**तुम्हें दण्डवत् मम जगत्राता। क्षमा करो जिनि सुत को ताता ।**
**पत्नी को पति मित को मीता । मुझ पर कृपा करो सुपुनीता ॥**

**भावार्थ :** इसलिए शरीर से लम्बा लेट कर स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को मैं प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ । जैसे पिता, पुत्र के, मित्र, मित्र के और पति पत्नी के तिरस्कार को सह लेते है, ऐसे ही हे देव ! आप मेरे द्वारा किए गए तिरस्कार को सह लीजिए (और मुझे क्षमा कीजिए) ।

यहाँ भक्ति के चारों भावों की ओर अर्जुन का संकेत है। श्लोक में ईशमीड्यम शब्द से स्वामी के लिए– 1. दास्य भाव भक्ति, 2. (पिता-पुत्र से) वात्सल्य भाव भक्ति, 3. (सखा-सखा से) सखा भाव भक्ति और 4. (पति-पत्नी से) कान्ताभाव भक्ति या मधुरा भक्ति का भाव ही स्पष्ट होता है । अर्जुन ने इन भावों

से प्रेम करने की प्रार्थना की है । उल्लेखनीय है कि निरंकार के साथ तादात्म्य (एकमेक) से शिष्य को एकदम स्पष्ट हो जाता है कि गुरुतत्व निरंकार ही है। इस प्रकार सद्‌गुरु साकार होते हुए भी निरंकार है और निरंकार सद्‌गुरु के स्वरूप में पूर्ण प्रगट होता है।

अर्जुन का यह कहना कि हे त्रिलोकी में अप्रितम प्रभाव वाले प्रभो ! आप चराचर जगत के स्वामी पालक और आदि गुरु हैं तथा आपसे अधिक तो क्या आपके समान भी सकल सृष्टि में कोई नहीं (श्लोक 43) और अब लम्बा लेट कर (दण्डवत) प्रणाम और स्तुति करना अर्जुन के दास्य भाव का द्योतक है । लेकिन स्वामी-दास का नाता जोड़ने में अर्जुन को कुछ कमी दिखाई दी. क्योंकि दास (नौकर या सेवक) से कुछ गलती हो जाए तो मालिक उसे अपने घर से निकाल भी सकता है, परन्तु पिता पुत्र को प्रायः नहीं निकालता, बल्कि उसकी गलतियों को छिपा लेता है । यही सोच कर अर्जुन ने दूसरा संबंध जोड़ कर कहा कि 'पितेव पुत्रस्य' यानि जैसे पिता पुत्र की गलतियों को अनदेखी करके क्षमा कर देता है, वैसे ही आप अपना पुत्र समझ कर मेरी गलतियों को क्षमा कर दो । प्रभु को पिता और स्वयं को पुत्र मानना भी भक्त का वात्सल्य भाव है । कदाचित यहाँ भी अर्जुन का मन स्थिर नहीं हुआ, क्योंकि पिता भी पुत्र को कभी न कभी तो डाँट फटकार मार ही देता है । अतः अर्जुन ने भक्ति के तीसरे भाव सखा भाव का नाता जोड़ कर कहा कि 'सखेव सख्युः' अर्थात् जैसे मित्र मित्र के अपराध क्षमा करता है, वैसे ही मेरे अपराध क्षमा कर दो । सब जानते हैं कि मित्र की गलती तो गलती लगती ही नहीं । कोई मित्र हमारे घर आए और उससे कोई चीज टूट-फूट जाए तो हम खुद ही संकोच करके कहने लगते हैं कि उधर ध्यान ही न दीजिए, यह पहले ही कमजोर थी और फिर मुझ से भी टूट सकती थी। इसी मित्र भाव को भक्ति का सखा भाव कहते हैं । किन्तु दो पक्के मित्रों में भी कभी कभी

द्रौण-द्रुपद की तरह मन-मुटाव और शत्रुता सम्भव है । अतः अर्जुन ने भक्ति का चौथा भाव कान्ता भाव (माधुर्य भाव, पति-पत्नी भाव या दाम्पत्य भाव) को ही निरापद समझा और कहा कि 'प्रिय प्रियाया:' जैसे पति पत्नी के अपराध को देखता ही नहीं, ऐसे आप भी मेरे पति रूप हो । अतः अपराध क्षमा कीजिए । अतः अर्जुन ने यहाँ भक्ति के चारों भावों (दास्य, वात्सल्य, सखा और कान्ता) का आश्रय लेकर प्रभु से प्रार्थना की है ।

**श्री भगवान ने कहा-**

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥47॥

काव्यानुवाद-

**अर्जुन, योग शक्ति परभावा। तुझे अनादि रूप दिखलाया ।**
**तेजवंत अति अंत न होई। तेरे सिवा लखा नहीं कोई ॥**

**भावार्थ :** भगवान बोले कि हे अर्जुन मैंने बहुत प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्य से तुझे यह अति श्रेष्ठ, तेजोमय, सबका आदि (मूल) और अनंत निराकार ब्रह्म रूप दिखाया है, जिसको तुम्हारे अलावा (यहाँ) पहले किसी ने भी नहीं देखा है ।

निरंकार के देखने के संदर्भ में बतलाते हैं-

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नश्लोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥48॥

काव्यानुवाद-

**वेद, पाठ, यग, दान के द्वारा। कर्मकाण्ड, बहु विधि तप मारा।**
**अति अद्भुत यह रूप हमारा। बिन तेरे को देखनहारा ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! मनुष्य लोक में तुम जैसे कृपा पात्र (भक्त) के सिवाय इस (निराकार ब्रहम्) के रूप को कोई वेदाध्ययन, यज्ञ,

दान, उग्र तपस्या और बड़ी-बड़ी क्रियाओं से भी नहीं देख सकता। अर्थात् ब्रह्मदर्शन प्रयत्नसाध्य नहीं, बल्कि कृपासाध्य है ।

दृष्टवेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृति गतः ॥51॥

काव्यानुवाद-

**अर्जुन ने कहा-**

**हे मोहन तव यह नर रूपा। अमित सौम्य लख परम अनूपा ।**
**शान्त चित अति हुआ हमारा। निज स्वभाव मन ने पुनि धारा ॥**

**भावार्थ :** अर्जुन बोला, हे कृष्ण, अब मै साकार में, आपको इस प्रसन्नमुख सौम्य मनुष्य-रूप को देखकर सचेत यानि प्रसन्नचित हुआ हूँ और अपनी प्रवृत्ति (सामान्य स्थिति) को प्राप्त हुआ हूँ।

**भगवान ने कहा-**

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥52॥

काव्यानुवाद-

**अति दुलर्भ यह रूप हमारा । जो तुम देखा कुन्तिकुमारा ।**
**क्योंकि इन्द्रादिक सुर नामी । इसी रूप-दर्शन के कामी ॥**

**भावार्थ :** भगवान बोले कि तुमने जो मेरा यह निरंकार अविनाशी रूप देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ है । देवता लोग भी इस निरंकार को देखने के लिए नित्य लालायित रहते हैं ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥54॥

काव्यानुवाद-

**मेरा भक्त रूप यह पावे। मुझे देख मुझ में ही समावे ।**
**भक्ति अनन्य करे जो मेरी। पाव मोहि सब संक निबेरी ॥**

**भावार्थ :** मैं अनन्य भक्ति के द्वारा ही निरंकार रूप में देखा जा सकता हूँ । केवल देखा ही नहीं जा सकता, प्रत्युत तत्व से भी जाना जा सकता हूँ और प्राप्त भी किया जा सकता हूँ ।

इस ब्रह्मदर्शन या तत्वज्ञान का लाभ (फल) बतलाते हुए अन्त (18/73) में अर्जुन ने स्वीकार किया है कि इससे मुझे चार लाभ हुए हैं । 1. मेरा मोह मिट गया, 2. मुझे अपना वास्तविक स्वरूप याद आ गया कि मैं देह नहीं, आत्मतत्व हूँ, 3. मेरी सारी शंकाएं समाप्त हो गई और 4. मैं अपने वास्तविक स्वरूप में भली-भाँति स्थित हो गया हूँ ।

इससे स्वतः सिद्ध है कि आत्म ज्ञान से जीव की सारी चिन्ताएं और तनाव समाप्त हो जाते हैं । उसके विचार बदल जाते हैं, जिससे जीवन में परिवर्तन हो जाता है । यह किस प्रकार होता है, इसे अगले अध्यायों में देखेंगे ।

# 6–भक्ति योग

समसामायिक सद्गुरु से परमात्मा का ज्ञान (दर्शन) होने पर जीव को प्रभु पर विश्वास हो जाता है । विश्वास के उपरान्त ही सबके प्रति प्रेम का भाव बनता है जो भक्ति का आधार है। सद्गुरु की कृपा से ही प्रेम और भक्ति जीव के मन में उत्पन्न हुआ करते हैं । कहा भी है–

बिन देखे मन मोद न माने, बिन मन माने प्यार नहीं।
प्यार बिना नहीं भक्तिभाव, बिन भक्ति बेड़ा पार नहीं॥
गुरु दिखावे, गुरु मनावे, गुरु ही प्यार सिखाता है।
गुरु बिन भक्ति निराधार, जो करता है पछताता है॥

–अवतार बाणी, पद–78

यही बात तुलसी दास जी ने मानस में "जाने बिन न होई प्रतीती, बिन परतीती होइ नहीं प्रीती, बिना प्रीति नहीं भगति दृढ़ाई" आदि वाक्यों द्वारा स्पष्ट की है । सभी ने ज्ञान के पश्चात् ही भक्ति की स्थिति स्वीकार की है। गीता भी ज्ञानोत्तर भक्ति की पक्षधर है । यही कारण है कि ग्यारहवें अध्याय में प्रतिपादित ज्ञान के बाद ही बारहवें अध्याय में भक्तियोग का वर्णन किया गया है । किन्तु इससे पहले सातवें अध्याय में भी चार प्रकार के भक्तों का वर्णन करते हुए ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। यथा–

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7/16

काव्यानुवाद–

**जगत भगत मम चार प्रकारा । चारों सुकृति अनघ उदारा।**
**धन–इच्छुक जिज्ञासु आरत । चौथा ज्ञानवान हे भारत॥**

**भावार्थ :** 1. अर्थार्थी यानि स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई चाहने वाले जैसे सुग्रीव, विभीषण, ध्रुव आदि, 2.द्रोपदी, गजराज आदि की तरह आर्त (डरे हुए), 3.जिज्ञासु यानि धन परिवार आदि में मोह न रखते हुए परमात्मा के निराकार रूप को जानने की इच्छा रखने वाले, जैसे परीक्षित आदि, 4. ज्ञानी अथवा प्रेमी भक्त यानि जिन्हें निराकार का ज्ञान हो चुका है, जैसे शुकदेव नारद आदि। ऐसे चार प्रकार के भक्त ही सुकृति हैं यानि अच्छा कर्म करने वाले पुण्यात्मा हैं ।

फिर भी इन चारों प्रकार के भक्तों में श्रेष्ठ भक्त कौन-सा है ? इसका उत्तर-

तेषां ज्ञानी नित्युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥17॥

काव्यानुवाद-

**इनमें ज्ञानी परम विशेषा । भक्ति करे नहिं स्वारथ-लेषा।**
**ज्ञानी भक्त विशेष हमारा । मैं उसको वह मुझ को प्यारा॥**

**भावार्थ :** इन चारों भक्तों में अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी (प्रेमी) भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि वह निरंतर मेरे में (प्रभु में) ही मन लगाए रखता है । इसलिए वह मुझे और मैं उसे अति प्रिय हूँ ।

पहले श्लोक में अन्य तीन प्रकार के भक्तों को भी सुकृति यानि श्रेष्ठ कहा गया है । फिर ज्ञानी (प्रेमी) में ऐसी क्या विशेषता है जो वही प्रभु को प्रिय है ? इसका उत्तर-

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥18॥

काव्यानुवाद-

**यद्यपि चारों भक्त उदारा । ज्ञानी समझ स्वरूप हमारा।**
**अति उत्तम गति पावनहारा । मुझमें स्थित भली प्रकारा॥**

**भावार्थ :** प्रेमी भक्त तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है, ऐसा मैं मानता हूँ । क्योंकि जिससे श्रेष्ठ कोई गति नहीं, ऐसे मुझ (प्रभु) में ही वह दृढ़ आस्था वाला है । अर्थात् और भक्तों में तो संकीर्ण स्वार्थ की कोई न कोई कामना है, परन्तु ज्ञानी(प्रेमी) भक्त तो बिल्कुल निष्काम और निरहंकारी है, क्योंकि वह ज्ञान द्वारा अद्वैत निराकार ब्रह्म (मुझ) में भली भाँति स्थित हो गया है ।

ज्ञानी भक्त की इतनी महिमा इसलिए है, क्योंकि–

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥19॥

काव्यानुवाद–

**बहुत जन्म भोगे अज्ञाना । अंत मनुज तन उपजे ज्ञाना ।**
**वासुदेव देखे सब रूपा । अति दुर्लभ वह भक्त अनूपा ॥**

**भावार्थ :** अनेक जन्मों के बाद मिले मानव शरीर को पाकर उसने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है और सब कुछ वासुदेव ही है ऐसा अनुभव करता है । अतः वह दुर्लभ भक्त है ।

(वासुदेव शब्द का अर्थ 'सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म' भी है। इसका अर्थ वसुदेव का पुत्र कृष्ण मात्र नहीं । श्लेष अलंकार के कारण इसके दोनों अर्थ हैं । ब्रह्मनिष्ठ सभी सद्गुरु वासुदेव (निराकार ब्रह्म) ही होते हैं । उपनिषद का भी वचन है कि यथा देवे तथा गुरौ ।) आदिशंकराचार्य के अनुसार जिस देव में सब वास करते हों या जो देव सबमें वास करे वही निराकार ब्रह्म वासुदेव है ।

– आचार्य शंकरकृत गीता भाष्य

मत्कर्मकृन्मत्परमो मदभक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥11/55॥

काव्यानुवाद–

**ममहित कर्म परमगति जानी । संगहीन मम भक्त जो प्रानी ।**
**सब में रहे निरवैर पियारा । भक्त पाव मोहि कुन्तिकुमारा ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! सब कर्मों को मेरे (प्रभु के) लिए करना, मेरे ही परायण होना (यानि प्रभु को ही अपनी परम गति मानना और जानना), आसक्ति रहित होना और किसी भी प्राणी के साथ मन में वैर न रखना– ऐसी भक्ति से युक्त भक्त मेरे को प्राप्त हो सकता है ।

यह सुनकर अर्जुन के मन में एक शंका हुई कि निराकार ब्रह्म की भक्ति करनी है या साकार सद्गुरु की । उसने यह प्रश्न सीधे रूप में भगवान कृष्ण से ही इस प्रकार पूछा कि–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥12/1॥

काव्यानुवाद–

**कुछ जन उपर्युक्त प्रकारा । संतत सुमिरन करें तुम्हारा।**
**कुछ निर्गुण निराकार को ध्यावें । उत्तम योगी कौन कहावें ?॥**

**भावार्थ :** जो भक्त इस प्रकार आप सगुण साकार के भजन ध्यान में लगे आपकी उपासना करते है और जो निराकार अविनाशी रूप की उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकार के भक्तों में उत्तम योगी कौन हैं ?

श्रीभगवानुवाच–

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥12/2॥

काव्यानुवाद–

**मुझ सर्गुण में मन को लावे । संतत मेरा भजन करावे ।**
**श्रद्धावान न ध्यान हटावें । मेरे मत उत्तम कहलावें ॥**

**अर्थ :** मेरे में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में (ग्यारहवें अध्याय के 55वें श्लोक के अनुसार) लगे हुए जो भक्त श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मुझ साकार परमेश्वर (सद्गुरु) को भजते है, वे मेरे को उत्तम योगी मान्य है । (अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ ।)

**भावार्थ :** निर्गुण ब्रह्म निराकार परमात्मा के उपासक की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म रूप, अपने गुरुदेव की श्रद्धा पूर्वक भक्ति तथा प्रेम-पूर्वक सेवा करने वाला शिष्य भगवान कृष्ण के मत से अधिक श्रेष्ठ है ।

**शंका :** भगवान कृष्ण साकार रूप में अपनी भक्ति की बात कहते है । आप उसका अर्थ गुरु क्यों लेते हैं ? कृष्ण की भक्ति और गुरु की भक्ति एक कैसे ?

**समाधान :** क्योंकि गीता में सर्वत्र कृष्ण का अर्थ गुरु और अर्जुन का अर्थ शिष्य ही है । सामान्य रूप में उनकी यही भूमिका है। शरीरपात होने के पश्चात् साकार गुरु भी निराकार में विलीन हो जाता है, फिर उसकी उपासना कैसे हो सकती है ? गुरु गीता में भी साकार उपासना की विधि इसी प्रकार वर्णित है-

ध्यान मूलं गुरोमूर्त्ति पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥

जैसे देहावसान के पश्चात् कोई चिकित्सक किसी की चिकित्सा नहीं कर सकता, चाहे अपने समय में वह कितना ही प्रसिद्ध रहा हो, इसी प्रकार देहांत के बाद गुरु भी न तो ब्रह्मज्ञान की दीक्षा देकर मायाजनित दुःखों का नाश ही कर सकता है और न वह साकार ब्रह्मरूप उपास्य ही हो सकता है । अतः यहां साकार उपासना का आधार वर्तमान कालीन गुरु ही हो सकता है, भगवान कृष्ण नहीं । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गुरु वही मानना चाहिए जो शिष्य को निराकार ब्रह्म के विराट रूप की अपरोक्ष अनुभूति (दर्शन) इस प्रकार करा दे । उपनिषद का वचन है कि ब्रह्मविद ब्रह्मेव भवति अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप ही होता है । ऐसे की ही उपासना फलदायक होती है । संतवाणी भी यही कहती है कि-

ऐसा साजन खोजिए, हरि से जोड़े जोय ।
जो नर हरि से जोड़दे, सो ही सद्गुरु होय ॥

-कबीर

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥5॥

काव्यानुवाद–

**निराकार में चित लगाना । क्लेश कठिन सब साधक जाना।**
**जब तक रहे देह अभिमाना । दुष्कर निराकार का ध्याना ॥**

**अर्थ :** निराकार ब्रह्म में आसक्त हुए चित् वाले व्यक्तियों के (ध्यानादि साधन में) क्लेश (परिश्रम) विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियों से निराकार की गति दुखपूर्वक प्राप्त की जाती है (अर्थात् जब तक देह में अभिमान रहता है, तब तक निराकार ब्रह्म में स्थित होना कठिन है ।)

**भावार्थ :** निराकार निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म अरूप होने से, आंख उसे देख नहीं सकती, अन्य इन्द्रियों का विषय भी यह नहीं । तभी तो भक्त महात्मा सूरदास जी को कहना पड़ा कि–

**रूप रेख गुन जाति जुगति बिन निरालम्ब मन चकृत धावे ।**
**सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावे ॥**

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥6॥

काव्यानुवाद–

**जो सब कर्म मुझे अरपावे । मेरे आश्रित ही हो जावे ।**
**भाव अनन्य करे मम ध्याना । मुझ सर्गुण को सब कुछ जाना ॥**

**मूलार्थ :** और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वर (सद्गुरु) को ही (तेल धारा के समान) अनन्य ध्यान योग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं–

**भावार्थ :** मेरे परायण का अर्थ है कि अपना तन, मन और धन दातार प्रभु, सद्गुरु का समझते हैं और इनकी सहायता से होने वाले समस्त कर्म भी प्रभु की शक्ति से सम्पन्न समझते हैं । जब

तन, मन और धन ही हमारे नहीं, तो इनके कार्य में हम कर्तापन का अभिमान करके लिप्त क्यों हो । निरंकारी बाबा तो अध्यात्म में प्रवेश करने वाले प्रत्येक जिज्ञासु से पहला प्रण ही कराते हैं कि तन, मन, धन आज से अपना नहीं, प्रभु परमात्मा का समझना है ।

वास्तविकता तो यह है कि अपना तन, मन और धन निराकार की सम्पत्ति जाने बिना सम्पूर्ण कर्मों का समर्पण परमात्मा अथवा सत्गुरु को होना भी सम्भव नहीं । फिर भगवान का यह कहना कैसे बन सकता है कि 'सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य' अर्थात् सब कर्मों का त्याग मेरे में कर । अतः जिज्ञासुओं को सर्वप्रथम अपना तन-मन-धन सत्गुरु को समर्पित करके मत्परः (मेरे परायण) अर्थात् सत्गुरु के परायण होना चाहिए । यही भक्ति का आधार अथवा नींव है । यह भी उल्लेखनीय है कि सद्गुरु अपने शरीर तक ही सीमित नहीं, अपितु सभी सन्त और जड़-चेतन सद्गुरु के ही रूप हैं । कहा भी है "सचराचर रूप स्वामि भगवंत" (तुलसी)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥7॥

काव्यानुवाद–

पारथ जो मुझ में मन लावे । मुझबिन दूजा नहीं सुहावे ।
मृत्युरूप सागर संसारा । इससे शीघ्र करूं मैं पारा ॥7॥

**अर्थ :** हे अर्जुन, उन मेरे में (सतगुरु में) चित को लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार सागर से उद्धार करने वाला होता हूँ ।

**भावार्थ :** उपर्युक्त दोनों श्लोकों छंठे और सातवें का आशय कुल मिलाकर यह होता है कि निराकार के उपासक को भवसागर से पार होने में भले ही विलम्ब हो जाए, परन्तु साकार ब्रह्म सतगुरु, अपने भक्त (सेवक अथवा उपासक) को माया सागर से पार करने में अथवा मुक्ति प्रदान करने में बिल्कुल भी विलम्ब नहीं करता,

क्योंकि गुरु स्वयं निराकार ब्रह्म ही होता है और शिष्य भी उसकी भक्ति (सेवा) निराकार भाव से ही करता है । भक्ति की यही सर्वश्रेष्ठ विधि महात्मा तुलसीदास ने भी लिखी है–

हिय निरगुन, नयननि सगुण, रसना राम सुनाम ।
– दोहावली 7

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।**
**निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥8॥**

काव्यानुवाद-

मन अपना मुझ माहि लगाओ । बुद्धि भी मुझ में ही टिकाओ ।
तब मुझ में निज वास ही जानो । इसमें मत कुछ संशय मानो ॥8॥

**अर्थ :** मेरे में मन और बुद्धि को लगा । इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा, इसमें संशय नहीं ।

**भावार्थ :** यहाँ गुरु और निराकार ब्रह्म की एकता का वर्णन यह कहकर किया गया है कि ब्रह्मभाव से सत्गुरु में मन और बुद्धि लगाने से शिष्य निराकार प्रभु में ही निवास करता है, अथवा उसे सदैव प्राप्त करता है और अविनाशी ब्रह्म के साथ एकत्व का आनन्द प्राप्त करता है ।

अथ चित्तं समाधातुं न शनकोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥9॥

काव्यानुवाद-

**यदि मन मुझ में न लग पाए । इसमें तुझे कठिनता आए ।**
**मुझ में इस विधि लग पाए मन 'अभ्यास योग' कर हे अर्जुन ॥**

**भावार्थ :** यदि मन प्रभु में न टिके तो फिर सेवा, सत्संग, सिमरन, स्वाध्याय आदि अभ्यास योग के द्वारा बुद्धि को नाम रूपात्मक माया (अनात्म) से हटा कर बार-बार प्रभु में लगाने का यत्न करे ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥10॥

काव्यानुवाद–

**यदि अभ्यास भी न कर पाओ।मम अर्पित सब कर्म कराओ ।**
**इससे भी तू मुझ को पाए । सिद्धि पाय भव से तर जाए ॥**

**अर्थ :** (उपर्युक्त) अभ्यास में भी (यदि तू) असमर्थ है तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो । (इस प्रकार) मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा ।

**भावार्थ :** यदि उपर्युक्त अभ्यास से भी मन दृढ़तापूर्वक प्रभु में नहीं टिकता तो तन, मन, धन आदि सब प्रभु का जानकर ही उनसे होने वाले समस्त कार्यो में यह भाव रहे कि ये सब कर्म प्रभु की शक्ति से, प्रभु के द्वारा, प्रभु के लिए ही हो रहे हैं। इस प्रकार का ध्यान समस्त कर्मो में करते रहने से भी मन प्रभु में स्थायी रूप से टिक जाता है । जैसे सती स्त्री अपना प्रत्येक कार्य पति की प्रसन्नता के लिए ही करती है, उसी प्रकार भक्त का प्रत्येक कार्य स्वार्थहीन अहंकारहीन और प्रभु प्रसन्नता के लिए ही होता है । यही वह स्थिति है जब व्यक्ति का प्रत्येक कार्य पूजा बन जाता है ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यांग ततः कुरु यतात्मवान् ॥11॥

काव्यानुवाद–

**जो तू यह भी न कर पाए।और उपाय तुम्हें बतलाएं ।**
**कर्म–फलों का त्याग कराओ। मेरी एक शरण में आओ ॥**

**भावार्थ :** यदि सब कर्मों को तू प्रभु को समर्पित नहीं कर सकता तो कर्मों के फलों को तो त्याग ही दे, क्योंकि व्यक्ति कर्म में लिप्त नहीं होता, बल्कि कर्म के फल में लिप्त होता है । अतः व्यक्ति को कर्म नहीं, उनका फल बाँधता है। जब हम कर्म का फल स्वयं न चाहेंगे और उसे प्रभु को समर्पित कर देंगे, तो कर्म

भी स्वयं प्रभु को समर्पित हो जाएगा, क्योंकि फल में स्वार्थ भावना के कारण ही कर्म में स्वार्थ भावना होती है । कर्मो के फल-त्याग से ही वास्तविक त्याग होता है, कर्मो के त्याग से नहीं । इसके पश्चात् ही अलौकिक शान्ति प्राप्त होती है, इसे भगवान कृष्ण ने अगले श्लोक में स्पष्ट किया है-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥12॥

काव्यानुवाद-

**अभ्यास से ज्ञान अधिक सुखदाई। ज्ञान से ध्यान परम अधिकाई ।**
**त्यागकर्म-फलउससे सुन्दर।परम शान्ति तब तो मन अन्दर ॥**

**अर्थ :** गुरु से परमात्मा को जाने बिना किए गए अभ्यास (कर्मकाण्ड) से ज्ञान श्रेष्ठ है । इस ज्ञान से भी प्रभु के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से भी सब कर्मो के फल का मेरे (प्रभु के) लिए त्याग करना श्रेष्ठ है और त्याग से तत्काल ही परम शान्ति प्राप्त होती है।

**भावार्थ :** ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से महावाक्य सुनकर ब्रह्म को जाने बिना कर्मकाण्ड करते रहने का नाम अभ्यास कहा गया है । गीता के चौथे अध्याय से दसवें अध्याय तक अधिकतर इस अभ्यास का वर्णन विभिन्न योगों के माध्यम से किया गया है । इस अभ्यास से (कर्मकाण्ड से) गुरु-प्रदत्त ब्रह्मज्ञान अधिक श्रेष्ठ है, जैसा कि भगवान कृष्ण ने अर्जुन को 11वें अध्याय में दिया है । गुरु कृपा से मिले दिव्य नेत्र (ज्ञान-चक्षु) से परमामा के साक्षाकार रूपी (ज्ञान) से भी श्रेष्ठ सतगुरु को निराकार ब्रह्म का विग्रह जानकर उनका ध्यान करना श्रेष्ठ है । ध्यान भी कभी-कभी माया के प्रकोप से हट जाता है । यह ध्यान अधिक टिकाऊ तब होता है जब प्रभु का ज्ञान हमारे प्रत्येक कर्म में ही उतर जाए जो कर्मो के फल-त्याग से ही सम्भव है । अतः कर्मो के फल के त्याग (प्रभु हेतु समर्पण) को ध्यान से भी श्रेष्ठ कहा गया है । कर्म में (जीवन में) प्रभु का ज्ञान उतरते ही हमें शान्ति का दिव्य अनुभव होता है।

शिष्य को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ही शान्ति नहीं मिल जाती, जब तक ज्ञान के बाद ध्यान और ध्यान के बाद कर्म-फल-त्याग की स्थितियाँ पार नहीं करता ।

ज्ञान तो प्रभु को जानना मात्र है । ध्यान इसे जीवन में उतारना है और कर्म-फल-त्याग, यही हो जाना है । अर्थात् इसे जानना, इसे जीवन में उतारना और यही हो जाना ।

इसे महात्मा-जन एक बहुत सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाते हैं। जल में तीन वस्तुएं डाल कर निकाली । पत्थर, रूई और मिश्री। पत्थर जल से निकल कर थोड़ी देर में सूख गया- यह है जानना (ज्ञान) । रूई के रोम-रोम में पानी प्रवेश कर गया और वह भारी हो गई- यह है जीवन में उतारना (ध्यान) । और मिश्री जल में घुल गई । तद्रूप हो गई । निकले कैसे ?- यह है वही हो जाना (कर्म-फल-त्याग के पश्चात् की परम शान्ति ।)

एक डली मिश्री की देखो, चली सिंधु-थाह लैन ।
भिन्न भेद ना रहा जरा भर सागर हो गई ऐन ॥
- संत गंगादास

इन स्थितियों का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी सुन्दर रूप में किया है, जैसे गीता के इस श्लोक (12/12) का अनुवाद ही हो-

रैन का भूषण चन्द्रमा, दिवस का भूषण भान ।
दास का भूषण भक्ति है, भक्ति का भूषण ज्ञान ।
ज्ञान का भूषण ध्यान है, ध्यान का भूषण त्याग ।
त्याग का भूषण शांति है, तुलसी अमल अदाग ॥
- तुलसीकृत वैराग्य संदीपनी

अब गुरु-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् गुरु-भक्ति की आवश्यकता पर विशेष बल दे रहे भगवान कृष्ण आदर्श गुरु-भक्त (गुरुमुख) के लक्षण बतलाते हुए कहते है-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥13॥

काव्यानुवाद–

**द्वेष रहित सब पर कृपालू । सबका मित्र और परम दयालू ।**
**क्षमाशील निर्मम निरमाना । सुख दुःख में जो एक समाना ॥**

**अर्थ :** सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी, दयालु, ममता और अहंकार से रहित सुख–दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान (अपराध करने वालों को भी अभय देने वाला) है।

**भावार्थ :** अद्वेष, मित्रता, करूणा और क्षमा के मूल में एक ही भाव है और वह है प्रेम । बिना प्रेम इन चारों गुणों की स्थिति सम्भव ही नहीं प्रतीत होती । प्रेम का अर्थ अध्यात्म में होता है अन्तर (Distance) कम करना, भेदभाव मिटाना । प्रेम–मार्ग में विघ्न स्वरूप ये भेदभाव मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं–

1. जाति–पाँति का भेद
2. खान–पान–परिधान का भेद

इन दोनों भेदभावों को मिटाए बिना, प्रेम का उदय सम्भव नहीं और प्रेम के अभाव में भक्ति भी गूलर का फूल बनकर रह जाएगी अर्थात् उत्पन्न ही नहीं होगी ।

भक्ति के लिए सब जीवों से प्रेम की आवश्यकता और भेदभाव समाप्त करके समदृष्टि पर भगवान कृष्ण ने विशेष बल देते हुए गीता में अन्यत्र भी कहा है कि उत्तम व्यक्ति (मुक्त) ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को भी बिना भेदभाव किए समदृष्टि से देखने वाले होते हैं (गीता 5/18) । अतः यह भेदभाव मिटाने की बात सनातन धर्म (गीता) के प्रतिकूल नहीं, बल्कि अनुकूल है ।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मदभक्तः स मे प्रियः ॥14॥

काव्यानुवाद–

**सन्तोषी मुझ से जुड़ जावे । यत्नशील दृढ़ निंश्चय लावे ।**
**मन बुद्धि अर्पित करनेहारा । वह मम भक्त मुझे अति प्यारा ॥**

**भावार्थ :** उपर्युक्त दोनों श्लोकों (13 और 14 ) में भक्त के हृदय में रहने वाले अद्वेष, मैत्री, करुणा, निर्भयता, अहंकारशून्यता, सुख-दुःख में समता क्षमाशीलता, संतोष मन और इन्द्रियों का संयम, दृढ़ निश्चय और मन-बुद्धि का सत्गुरु के लिए समर्पण आदि गुणों का वर्णन है । इन गुणों से सम्पन्न भक्त ही गुरु को प्यारा होता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान के पश्चात् भक्ति की भूमिका में ही इन प्रेमादि गुणों का उदय होता है, इससे पहले नहीं । अतः यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता कि पहले ये गुण हों तब ज्ञान और भक्ति का उदय होता है । इनका प्रारम्भिक रूप पहले सम्भव तो है, परन्तु अहंकार के कारण ये सारे गुण भी दोष हो सकते हैं अतः इनकी दृढ़ स्थिति ज्ञान के पश्चात् ही सम्भव है । गुरु की कृपा से शिष्य में ये गुण स्वयं ही दृढ़ता से उदित हो जाते हैं ।

उपर्युक्त सारे गुणों का जन्मदाता सत्गुरु के प्रति अनन्य प्रेम ही है, क्योंकि सबमें सत्गुरु का रूप देखने वाला व्यक्ति किसी से द्वेष, वैर, विरोध कैसे कर सकता है ?

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद कोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध ॥
– तुलसीकृत मानस, 7/112

और सबमें सद्गुरु की मूर्ति देखने वाला भक्त सबके साथ दया, मैत्री, करूणा, समता, क्षमाशीलता आदि के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है ?

यह अनन्य भक्ति गुरु शरणागत हुए बिना सम्भव नहीं, क्योंकि कृष्ण भगवान का यहां स्पष्ट आदेश है कि सब कर्मो के फल मुझे समर्पित करके ही मेरा प्रिय भक्त हो सकता है । आज बिना गुरु चरण शरण के अनेक व्यक्तियों को भक्ति करते हुए देखकर हैरानी होती है । यह परम श्रेष्ठ भक्ति आज तक बिना सन्त-कृपा के किसी ने भी प्राप्त नहीं की-

सब कर फल हरि भगति सुहाई ।
सो बिन सन्त न काहू पाई ॥
– मानस 7/120/18

अतः निराकार ब्रह्म–भाव से साकार गुरु–सेवा ही अनन्य भक्ति है । ऐसे भक्तों में ही उपर्युक्त सन्तों वाले गुण प्रकट होते हैं। आगे भी उन्हीं भक्तों के लक्षण कहते हैं–

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥12/15॥

काव्यानुवाद–

**जिससे जीव कष्ट नहीं जाने । जो जीवों से उद्वेग न माने ।**
**हर्ष द्वेष भय सबसे न्यारा । वह भक्त मोहि परम पियारा ॥**

**अर्थः** जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है तथा जो अमर्ष (ईर्षा जनित संताप) भय, उद्वेगादि से रहित है, वह भक्त मेरे (प्रभु) को प्रिय है ।

**भावार्थ :** अनेक तरंगों में एक जल की भांति जो सब भूत प्राणियों में एक प्रभु को ही देखेगा, उसके लिए सब अपने ही रूप हैं । अतः वह किसी जीव को कभी भी कष्ट नहीं देगा, जैसे कोई स्वयं को कष्ट नहीं देता । दूसरों के द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी वह क्रोधादि उद्वेग (Emotions) नहीं प्रकट करेगा, क्योंकि सबके अन्दर कर्ता एक (प्रभु) ही तो है । जैसे यदि हमारी आंख में भूल से कभी हमारी ही अंगुली लग जाए तो क्रोध में अंगुली काटना कभी नहीं चाहेंगे । कभी भूल से हमारे दांतों से ही हमारी जीभ कट जाए तो क्रोध में आकर दांत नहीं तोड़ेंगे । क्योंकि हम जानते है कि दांत, जीभ, अंगुली, सभी अंग तो हमारे है फिर किस पर क्रोध करेंगे और किसे कष्ट (उद्वेग) पहुँचाएंगे ।

इसी प्रकार भक्त के अन्य लक्षण स्पष्ट करते हैं–

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मदभक्तः स मे प्रियः ॥16॥

काव्यानुवाद–

**इच्छा रहित कुशल शुचि प्यारा । समदृष्टि सब दुख से न्यारा ।**
**कर्तापन अभिमान न लावे । ऐसा भक्त मुझे अति भावे ॥**

**भावार्थ :** भक्ति में कामनाएं रहीं तो वह भक्ति (सेवा) नहीं, चाटुकारिता होगी । अतः निष्काम सेवा ही सेवा हैं । सत्गुरु के प्रति तन–मन--धन लगाना तब तक भक्ति नहीं, जब तक वह किसी इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य से किया जा रहा है ।

यहाँ भगवान कृष्ण का यही आशय है कि सत्गुरु का प्यारा भक्त वह है जो निष्काम (अनपेक्षः) है ।

शुचि का अर्थ पवित्र है । जलादि के स्नान से बाहरी सफाई ही काफी नहीं, ब्लकि ब्रह्मज्ञान के द्वारा अंतःकरण के मल काम, कोध, लोभादि भी दूर करने चाहिएं । वही वास्तविक पवित्रता है । अन्तःकरण के ये मल केवल गुरु–प्रदत्त ब्रह्मज्ञान से ही दूर हो सकते हैं, क्योंकि भगवान अन्यत्र भी पहले कह चुके है कि इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्सन्देह कुछ भी नहीं । (गीता 4/38)

दक्ष का अर्थ है चतुर । जिसने मानव शरीर प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरण शरण होकर, परमात्मा को जानकर अपना चौरासी का चक्र समाप्त कर लिया है, वही दक्ष है । उदासीन = उत + आसीन = ऊपर बैठा हुआ, उच्च स्थित भक्त को इसलिए कहा गया है क्योंकि वह दृश्यमान प्रपंच (साकार सृष्टि) से ऊपर उठकर निराकार परमात्मा के उच्च स्वरूप में स्थित रहता है । वह अपने समस्त कर्मो के फल का त्याग गुरु के लिए करने वाला होता है । अतः सर्वारम्भ परित्यागी कहा गया है । यहाँ भगवान कृष्ण का स्पष्ट कथन है कि जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त सत्गुरु (मेरे) से जुड़ जाता है और भक्ति का उदय जिसमें उपर्युक्त प्रकार हो जाता है, उसी के मृत्यु–भय आदि दुख नष्ट होते है ।

सन्त गंगादास भी कहते हैं-

जान आपको, जब जागेगा ।
जागेगा, गुरु से लागेगा ।
लागेगा तो भय भागेगा ।

– संत गंगादास

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥17॥

काव्यानुवाद-

**हर्ष द्वेष चिन्ता नहिं कोई । इच्छा शोक नहीं मन होई ।**
**पाप पुण्य से रहे नियारा । ऐसा भक्त मुझे अति प्यारा ॥**

**अर्थ :** जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना करता है तथा जो शुभ-अशुभ समस्त कर्मो के फलों का त्याग (सत्गुरु के लिए) करता है, वह भक्ति युक्त पुरुष मेरे को प्रिय है ।

**भावार्थ :** सब में अपने गुरु की मूर्ति और निराकार परमात्मा की ज्योति देखने वाला भक्त न तो इष्ट को पाकर प्रसन्न ही होता है और न अनिष्ट को प्राप्त करके द्वेष ही करता है । सच तो यह है कि उसके लिए इष्ट और अनिष्ट भी कोई नहीं रहता, क्योंकि 'तेरा रूप है सब संसार' यह भावना उसमें दृढ़ता से ब्रह्म-दर्शन के पश्चात् प्रवेश कर जाती है । सब कर्मो का फल सत्गुरु को अर्पित करने के कारण वह पाप-पुण्य में भी लिप्त नहीं होता ।

भक्त के अन्य लक्षण बतलाते हुए कृष्ण कहते हैं कि-

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥18॥

काव्यानुवाद-

**शत्रु मित्र सब सम करि जाने । मान-अपमान समान हि माने ।**
**गर्मी-सर्दी सुख-दुःख त्यागी । अनासक्त जो जन, बड़भागी ॥**

**अर्थ :** जो व्यक्ति शत्रु-मित्र में मान-अपमान में एक समान (सम) रहता है और सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों में भी सम है तथा जो संसार में भी आसक्ति से रहित है अर्थात् निर्लिप्त है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥19॥

काव्यानुवाद-

**कीरति-निन्दा सम जो जाने । मननशील सन्तोष जो माने ।**
**अनिकेत स्थिर मतिवारा । भक्तिमान मुझको अति प्यारा ॥**

**अर्थ :** निन्दा और प्रशंसा को समान समझने वाला और मननशील (अर्थात् प्रभु के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला) जैसे निर्वाह हो रहा है, उसी से सन्तुष्ट रहने की स्थिति में ममता से रहित है (अनिकेतः), वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान व्यक्ति मेरे को (सतगुरु को) प्रिय है ।

**भावार्थ :** ऊपर के दोनों श्लोकों (18 और 19) का भाव कुल मिलाकर यह है कि आदर्श गुरसिख (भक्त) वह हैं जो शत्रु और मित्र दोनों को ईश्वर का रूप समझकर समान भाव रखता है। इसी प्रकार मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि समस्त द्वन्द्वों को अपने प्रभु की लीला समझ कर प्रसन्न होता रहता है । इसी प्रकार निन्दा और अभिनन्दन में भी वह एक समान रहता है, क्योंकि निन्दक और प्रशंसक दोनों ही ईश्वर के रूप उसे दिखाई देते है। वास्तव में भक्त अपनी बड़ाई और प्रशंसा सुनकर, उसे तुरन्त सतगुरु को समर्पित कर देता है और कहता है कि ये सब प्रशंसा मेरे सतगुरु की है । इसी प्रकार निन्दा सुनकर भी वह ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि हे सतगुरु ! मेरी परीक्षा इस प्रकार क्यों ले रहे हो ? भक्त वही है जो हर हाल में खुश है । ऐसा भक्त ही सतगुरु को प्यारा होता है ।

अनिकेतः (अ = नहीं, निकेत = घर) का अर्थ यह नहीं कि घर नहीं रखना अथवा घर छोड़ देना है । भगवान कृष्ण की यह

मान्यता होती तो वे अर्जुन को क्यों रोकते, जब वह गृहस्थ और राज्य को त्याग कर भिक्षा के अन्न से निर्वाह करने के लिए तैयार हुए थे । उन्होंने अपने प्रिय भक्त अर्जुन को यही समझाया कि गृहस्थ का कुरुक्षेत्र तो जीतना ही पड़ेगा और यह कठिन भी नहीं, यदि अपने शरीर रूपी रथ की लगाम तू सतगुरु के हाथ में दे देगा, फिर तू निश्चिंत और मैं जानूं ।

अतः अनिकेतनः का अर्थ घर की आसक्ति (मोह) का त्याग करना है, न कि घर और गृहस्थ का ।

हम देखते हैं कि राम, कृष्ण, जनक, सप्तऋषि आदि उच्च कोटि के भक्त सन्त गृहस्थ में रहकर ही भगवान की श्रेणी तक पहुँचे थे । गीता के किसी भी भाष्य में मुझे अनिकेतः का अर्थ गृह-त्याग नहीं मिला । सर्वत्र गृह की आसक्ति का त्याग ही है। भगवान कृष्ण के मतानुसार भी, जैसे कर्म का त्याग न करके उसके फल की इच्छा का त्याग करना है, उसी प्रकार गृह का त्याग न करके उसमें मोह और आसक्ति का त्याग करना है । इस शब्द अनिकेतः के अर्थ का अनर्थ करके समाज में भी अनर्थ होने लगते है । अतः इस सन्दर्भ में भक्त को अधिक सावधानी की आवश्यकता है ।

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न भक्त ही सतगुरु को प्यारा होता है । अब भक्ति योग का उपसंहार करते हुए अन्त में भगवान कृष्ण कहते हैं-

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।

12/20

काव्यानुवाद-

**यह धर्मामृत जो मन धारे। जो जन मुझ में श्रद्धावारे ।**
**नाम खुमारी में मतवारे। ऐसे भक्त मुझे अति प्यारे ॥**

**अर्थ :** और जो मेरे परायण हुए श्रद्धायुक्त व्यक्ति इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत का निष्काम भाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे (सत्गुरु को) अतिशय प्रिय हैं ।

**भावार्थ :** सत्गुरु की तन-मन-धन से प्रेमपूर्वक निष्काम सेवा (भक्ति) ही धर्ममय अमृत है । इस अमृत का सेवन जो कर्तापन के अभिमान से मुक्त होकर (निष्काम भाव से ही) अर्थात् यही जानकर करता है कि सद्गुरु की महती कृपा से ही मुझे यह सेवा की मेवा (धर्ममय अमृत) मिल रही है, वरना मैं इस योग्य कहां था, ऐसे दीन स्वभाव के और सब कर्मों के फल सत्गुरु के लिए समर्पित करने वाले भक्त ही गुरु को अतिशय प्रिय होते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति का आधार परमात्मा से जोड़ने वाला सद्गुरु ही होता है और यह स्वयं परमात्मा का ही सर्वश्रेष्ठ साकार रूप होता है । इसलिए भक्त की यह स्थिति, ज्ञान के पश्चात् ही होती है क्योंकि अन्तःकरण की पवित्रता और उपर्युक्त गुणों का उदय ज्ञान के बिना सम्भव नहीं । ज्ञान सब पापों को इस प्रकार क्षण मात्र में नष्ट कर देता है जिस प्रकार अग्नि की चिंगारी ईंधन के ढेर को तुरन्त जलाकर नष्ट कर देती है (गीता 4/37) । इसके पश्चात् ही अनन्य भक्ति की उपलब्धि सत्गुरु की कृपा से शिष्य के हृदय में इस प्रकार होती है जैसे कृष्ण-कृपा से अर्जुन के हृदय में हुई है ।

# 7–जीवनमुक्त के लक्षण

अपने जीवन काल में ही आत्म ज्ञान द्वारा जब किसी व्यक्ति को सब दुःखों से छुटकारा मिल जाता है, यहाँ तक कि जन्म–मरण अथवा आवागमन का चौरासी लाख योनियों का उसका चक्र भी समाप्त हो जाता है, तब वह जीवनमुक्त कहलाता है ।

कुछ लोग कहा करते हैं कि शरीर छूटने पर जब पाँचों तत्व अपने विशाल रूपों में मिल जाते हैं तो जीवात्मा भी स्वतः परमात्मा में मिल जाएगी । अतः मृत्यु के पश्चात् विदेह मुक्ति स्वयं ही मिल जाएगी । इसके लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? इनमें कई व्यक्ति यहाँ तक कह देते हैं कि जीवन में मुक्ति सम्भव ही नहीं । वे केवल विदेह मुक्ति की स्थिति ही मानते हैं ।

वास्तविकता यह है कि जिसे जीवन में मुक्ति मिलती है उसे ही शरीर त्यागने पर विदेहमुक्ति प्राप्त होती है । जैसे यदि कोई व्यक्ति अपनी कार में चलता हुआ अपने किसी सम्बन्धी की कोठी खोज रहा है । उसके लिए वह रुक–रुककर उसका पता पूछता है । यदि उससे कहा जाए कि कार छोड़ दो तो मंजिल स्वयं मिल जाएगी, तो वह कभी विश्वास नहीं करेगा, क्योंकि वह भली भाँति जानता है कि अगर कार में रहते हुए ही लक्ष्य मिल गया तो कार छोड़कर भी उस पर पहुँच जाऊँगा । इसी भाँति शरीर रूपी वाहन में रहते रहते ही परमपिता को जान लिया तो शरीर छूटने पर भी उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं । अतः जिन्हें जीवन काल में ही मुक्ति मिल जाती है, उन्हें ही देह–त्याग करने के पश्चात् मुक्ति मिलती है । इसी जीवन मुक्ति का वर्णन गीता के पाँचवें अध्याय में है ।

अर्जुन ने पूछा कि हे भगवन ! आप कभी ज्ञान को श्रेष्ठ बताते हो और कभी कर्म की प्रशंसा करते हो । इन दोनों में कौन-सा अच्छा है । इसके उत्तर में भगवान स्पष्ट करते है कि ज्ञान प्राप्त करके भी कर्म त्यागने नहीं, बल्कि कर्मो की आसक्ति और उनके फल की कामना के त्याग करने से जीवन मुक्ति मिलती है क्योंकि हमे बंधन में कर्म नहीं डालते, बल्कि उनके फल की कामना ही बन्धन का कारण है । कर्म तो करने हैं, किन्तु उनमें पाँच भाव छोड़ने हैं । 1. कर्त्ता भाव, 2. कर्म के फल की कामना, 3. कर्म की आसक्ति, 4. राग और 5. द्वेष । अर्थात् जब कोई कर्त्तापन का अहंकार नहीं करता, कर्म में लगाव (आसक्ति) नहीं रखता, उसके फल की कामना नहीं करता और राग-द्वेष से प्रेरित होकर कार्य नहीं करता तो उसके सारे कर्म अकर्म बन जाते हैं और बंधन का कारण नहीं बनते । अतः वह कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी जीवनमुक्त है ।

वह कर्मयोग से ब्रह्म को कैसे प्राप्त कर लेता है, यह आगे बतला रहे हैं-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥5/7॥

काव्यानुवाद-

**हरिसे जुड़ा शुद्धचितयोगी । इन्द्रिय जीत आत्म रस भोगी ।**
**जड़ जंगम हरि रूप लखावै । कर्म करे पर लेप न लावै ॥**

**मूलार्थ :** जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय और शुद्ध अंतःकरण वाला है, जो अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।

**भावार्थ :** कर्मयोगी महापुरुष किसी भी कर्म का कर्ता अपने आपको नहीं मानता । कर्म सब प्रकृति के गुणों द्वारा हो रहे है, आत्मा तो अकर्ता है । जैसे बिजली के अस्तित्व मात्र से पंखे घूमने लगते हैं, बल्ब प्रकाशित होते हैं, परन्तु बिजली न घूमती है, न प्रकाशित

होती है । इसी प्रकार अकर्ता आत्मा के होने मात्र से ही प्रकृति कार्यशील हो जाती है ।

इसी बात को अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं-

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥8॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥9॥

काव्यानुवाद-

**ब्रह्मज्ञानी जो ब्रह्म पिछाने । मैं नहि कर्ता यह मन माने ।**
**देखत, सूनत, छूवत, सूंघत । खावत, चालत, सोवत, जागत ॥8॥**

**श्वासत,लेवत, त्यागत, बोलत ।पल पल पलकें मूंदत,खोलत।**
**जानत विषय इन्द्रियां जावैं । स्वयं 'साक्षी' आप लखावैं ॥9॥**

**मूलार्थ :** ज्ञानवान महापुरुष तो देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, सांस लेता हुआ, बोलता हुआ, देता हुआ, लेता हुआ (त्याग-ग्रहण करता हुआ) आंखों को खोलता हुआ, मीचता हुआ भी ऐसा माने कि इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में बर्त रही हैं, मैं कुछ नहीं करता हूँ । मैं तो साक्षीमात्र हूँ ।

**भावार्थ :** हमारे शरीर के द्वारा जितने कार्य होते रहते हैं, उनमें 'श्वास' मानो मेन स्विच है । वह बंद तो सारी क्रियाएं बन्द और वह चलता है तो सारी क्रियाएं चलती है । अब आप ही सोचिए कि श्वास आप चला रहे है या प्रकृति ? जब आप सो जाते है तब भी श्वांस चलते रहते हैं । अतः प्रकृति चला रही है । जब श्वांस प्रकृति चला रही है तो सभी कार्य प्रकृति द्वारा ही हो रहे है । क्योंकि सब कार्यो का आधार प्राण ही है । अतः ज्ञानवान कभी भी यह नहीं समझता कि मै कर्ता हूँ। मनुष्य की अन्दर और बाहर की प्रकृति (Nature) ही सारे कार्य करने के लिए

शरीर को विवश करती है । शरीर भी तो प्रकृति का अंश ही है। परमात्मा का अंश आत्मा (जीव) इससे अलग है, जो सर्वथा शांत और अकर्ता है । श्वास चलाने की तरह ही दिल धड़कने का कार्य भी प्रकृति से ही हो रहा है ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङंगत्यक्तवा करोतिय: ।
लिप्यते न स पापेन पद्मापत्रमिवाम्भसा ॥10॥

काव्यानुवाद-

**प्रभु-अर्पित सब कर्म कराए। अनासक्त रह फल नहि चाहे ।**
**महापुरुष रहे पाप-अलेपा। ज्यों जल कमल रहे निरलेपा ॥**

**मूलार्थ :** जो व्यक्ति सब कर्मो को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह व्यक्ति जल से कमल-दल की तरह पाप से लिप्त नहीं होता ।

**भावार्थ :** सारी विशाल प्रकृति ही परमात्मा को समर्पित हो कर, उन्हीं के अस्तित्व मात्र से, उन्हीं के लिए कार्य कर रही है । सूरज, चांद, सितारे नदियां, वनस्पति आदि सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के लिए समर्पित और कार्यशील है । फिर मनुष्य तो इस विशाल ब्रह्माण्ड का बहुत छोटा भाग है, परन्तु अहंकार के कारण अपने को कुछ समझने लगा है । इसे भी विशाल प्रकृति की मुख्य धारा में शामिल होकर (जो वास्तव में है भी) अपने सभी कार्य प्रभु के लिए, प्रभु को ही समर्पित करने चाहिएं । तभी वह कमल की तरह निर्लिप्त जीवन जी सकता है । अर्थात् उसे पापों का लेप इस प्रकार नहीं लगेगा जैसे कमल के पत्ते को पानी का लेप नहीं लगता ।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिन: कर्म कुर्वन्ति सङंग त्यक्तवात्मशुद्धये ॥11॥

काव्यानुवाद-

**मन वाणी बुद्धि अरु काया। इनको कर्मों मांहि लगाया ।**
**अनासक्त रह नहिं फल चाहे। चित-शुद्धि हित कर्म कमाए ॥**

**मूलार्थ :** (ममता रहित) कर्म योगी केवल इन्द्रिय मन बुद्धि और शरीर द्वारा आसक्ति को त्याग कर, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करता है ।

**भावार्थ :** कर्मयोगी महात्मा शरीर मन बुद्धि और इन्द्रियों को अपना नहीं मानता, बल्कि मिथ्या प्रकृति के अंग जानता है, इसलिये उनके द्वारा होने वाले कार्यों में भी लिप्त और आसक्त नहीं होता। उन कार्यों का कर्ता भी प्रकृति को ही मानकर आप अनासक्त शान्त और अकर्ता रहता है । जितनी आसक्ति उतना ही दुख-सुख का भाव होता है । कर्मयोगी इस झंझट में पड़ता ही नहीं ।

युक्तः कर्मफलं त्यक्तवा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो बिध्यते ॥12॥

काव्यानुवाद-

**योगी त्याग कर्म-फल-लोभा । पाए परम शांति शुभ शोभा ।**
**फल की लिप्सा करे सकामी । बन्धन में बंधता फल-कामी ॥**

**मूलार्थ :** कर्मयोगी कर्मो के फल का त्याग करके प्रभु-प्राप्ति रूप शांति को प्राप्त होता है और अज्ञानी कामना के कारण कर्म-फल में आसक्त होकर बंध जाता है (अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होता है) ।

**भावार्थ :** ज्ञानवान (आत्म ज्ञानी) महात्मा फल की कामना से कर्म नहीं करता, इसलिये कर्म करता हुआ भी बन्धन में नहीं पड़ता, जबकि अज्ञानी फल की इच्छा से कर्म करता हुआ बन्धन में पड़ जाता है । जीव को कर्म नहीं, कर्मफल की इच्छा बन्धन में डालती है । ज्ञानी अपने परिवार का पालन-पोषण भी अगर इस भावना से करता है कि यह करना मेरा कर्तव्य है और फिर मैं तो कुछ भी नहीं, जो कर्ता बनूं । ये सब कार्य तो परमात्मा की शक्ति से प्रकृति कर रही है तब वह बन्धन में नहीं आता । यदि वही आदमी इस भावना से कार्य करे कि मैं अपने भाई-बहनों, परिवार आदि का पालन-पोषण आज कर रहा हूँ तो कल भाई भी मेरी

सहायता करेंगे और बच्चे भी मेरे बुढ़ापे का सहारा बनेंगे अथवा समाज में मेरा सम्मान होगा तो वह फल की कामना से बन्धन में पड़कर सुख-दुख के झूले में झूलता रहेगा ।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥13॥

काव्यानुवाद-

**कर्मों की लिप्सा मन त्यागे । सुखी वशी हरि में लौ लागे ।**
**नव द्वारे तन नगरी रहता । ना कुछ करता नाहि कराता ॥**

अर्थ : मन को वश में (प्रभु में स्थिर) करने वाला ज्ञानी, न करता हुआ, न करवाता हुआ ही शरीर रूपी घर में सब कर्मों को मन से त्याग कर आनन्दपूर्वक परमात्मा में स्थित रहता है ।

**भावार्थ** : शरीर से कर्म करता हुआ भी ज्ञानी मन से परमात्मा में स्थित रहता है, जबकि अज्ञानी का मन भी कर्म-फल में पड़ा रहता है । ज्ञानी हाथ काम में, मन राम में रखता है, जबकि अज्ञानी तन काम में और मन कर्म-फल में रखता है । शरीर को नौ द्वारों (2 कान+ 2 नेत्र+ 2 नासिका+ 1 मुख+ 2 मल-मूत्र का त्याग करने वाली कमेन्द्रियां) वाला नगर इसलिए कहा गया है क्योंकि जैसे नगर में अनेक जीव रहते हैं, इसी प्रकार एक शरीर में भी अरबों जीवाणु (Living Cells) रहते है ।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे (यानी जैसा शरीर में वैसा ही ब्रह्माण्ड में) के नियमानुसार ये नौ द्वार (माया) और दसवां द्वार (ब्रह्म) शरीर के बाहर ब्रह्माण्ड में भी स्थित है । निरंकारी बाबा के अनुसार नौ द्वार (माया या प्रकृति) ये हैं-

**स्थूल माया**-

1. सूर्य, 2. चन्द्र, 3. तारे (नक्षत्र, उपग्रह और ग्रह) 4. पृथ्वी, 5. जल 6. अग्नि 7. आकाश, 8. वायु 9. जीव-भाव (अहंकार)

इसी प्रकार दसवां द्वार (ब्रह्मतत्व) भी शरीरों के अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त है ।

यदि हम इन द्वारों को शरीर तक ही सीमित मानेंगे तो असीम ब्रह्म और असीम प्रकृति दोनों को ही सीमित कर देंगे, जो उचित नहीं ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥14॥

काव्यानुवाद--

**कर्तापन प्रभु नहीं बनाए । कर्म, कर्म-फल भी न रचाए।**
**नहीं किसी का सुख दुख दाता।सब स्वभाव गुण से ही पाता॥**

**मूलार्थ :** मनुष्यों के कर्तापन, कर्म और कर्मफल को परमेश्वर नहीं बनाता है, बल्कि स्वभाव (प्रकृति) ही कार्यशील है (अर्थात् माया ही सब कुछ कर रही है) ।

**भावार्थ :** जैसे चुम्बक के अस्तित्व मात्र से ही लोहे में हलचल होती है और विद्युत के रहने मात्र से ही पंखे घूमने और बल्ब जलने लगते हैं, इसी प्रकार निराकार ब्रह्म के अस्तित्व मात्र से ही अर्थात् रहने मात्र से ही प्रकृति कार्यशील हो जाती है । ब्रह्म न तो कर्ता है और न कर्म-फल से लिप्त होता है, बल्कि प्रकृति के गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं ।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥15॥

काव्यानुवाद-

**पुण्य पाप सब जीव भुलाएं । हरि को लिप्त नहीं कर पाएं ।**
**पर माया-तम-ज्ञान छिपाया । जीव मोह में जान न पाया ॥**

**मूलार्थ :** सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है, किन्तु अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इसी से सब अज्ञानी मनुष्य मोहित (भ्रांत) हो रहे हैं ।

**भावार्थ :** जैसे जल से उत्पन्न काई जल को ही ढक लेती है, और अज्ञानी जानते हैं कि जल है ही नहीं । वैसे ही ब्रह्म से बनी हुई माया (अज्ञान) ने ही ब्रह्म को ढक लिया है । जैसे विद्युत (की शक्ति) से हीटर भी जलता है और फ्रिज भी, परन्तु विद्युत न गर्म होती है और न ठण्डी । दोनों के प्रभाव से मुक्त है । इसी प्रकार ब्रह्म भी न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥16॥

काव्यानुवाद–

**पर जिनके मन का अज्ञाना । ब्रह्मज्ञान से दूर दुराना ।**
**उनको ज्ञान सूर्यवत् भासे । निराकार सर्वत्र प्रकासे ॥**

**मूलार्थ :** परन्तु जिनका वह अज्ञान ब्रह्मज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्य की भांति उस सच्चिदानन्द परमात्मा को प्रकाशित कर देता है ।

**भावार्थ :** जैसे सूर्य उदय होने पर अंधकार हट जाता है और सब रूप स्पष्ट दिखाई देने लगते है, इसी प्रकार पूर्ण सद्गुरु द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर परमात्मा स्पष्ट हो जाता है और अंग-संग सर्वत्र दिखाई देने लगता है, क्योंकि माया का अंधकार (अज्ञान) समाप्त हो जाता है ।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥17॥

काव्यानुवाद–

**मन बुद्धि जिनकी हरि लागे । तत्पर प्रभु में निष्ठा जागे ।**
**ज्ञान अग्नि सब पाप जलाए । मोक्ष मिले फिर जन्म न पाए ॥**

**मूलार्थ :** जिनके मन और बुद्धि तद्रूप हो गए है और परमात्मा में ही जिनकी अटूट भाव से स्थिति है, ऐसे तत्वपरायण व्यक्ति

ज्ञान के द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति (परम गति) को प्राप्त होते हैं, (अर्थात् आवागमन के चक्र से छूट जाते हैं) ।

**भावार्थ :** जिनकी बुद्धि परमात्मा में स्थित है, वे तद्बुद्धि है, जिनका कर्ता-भाव नष्ट हो गया है, वे तन्निष्ठ हैं और जिनकी आत्मा परमात्मा में स्थित है, वे तत्परायण कहलाते हैं । ऐसे संत सबमें ब्रह्म-दर्शन करने के कारण समदृष्टि हो जाते हैं, यह भाव आगे इस प्रकार कहा गया है-

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥5/18॥

काव्यानुवाद-

**ब्राह्मण विद्या विनय निधाना । गौ गज बधिक आदि अरु स्वाना ।**
**महापुरुष सबको सम पेखे । भेद भाव कबहूँ नहि देखे ॥**

**मूलार्थ :** विद्या-विनय-युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते और चाण्डाल (कसाई) में भी ऐसे संत जन (पण्डिताः) सम भाव से देखने वाले (होते) हैं ।

**भावार्थ :** महिलाएं जैसे बाली, झुमके, हंसली, हार आदि को आभूषण-दृष्टि द्वारा अलग-अलग भावना से देखती हैं, परन्तु सुनार 'स्वर्ण दृष्टि' से सबको एक ही भावना से देखता है । इसी तरह ब्रह्मज्ञानी महात्मा भी सबको समदृष्टि से ब्रह्मरूप ही देखता है । यहां नार-दृष्टि में भिन्नता (दुई या द्वैत) है, परन्तु सुनार दृष्टि में अद्वैत दृष्टि है । ज्ञानियों की अद्वैत दृष्टि ही होती है और वे सबको ब्रह्मरूप देखने के कारण ही समदर्शन करते हैं । अद्वैत करते हैं।

**अद्वैत की मर्यादा :** संत समदर्शन तो करता है, किन्तु समवर्तन (एक सा बर्ताव) का आग्रह नहीं करता और यह सम्भव भी नहीं क्योंकि इससे सामाजिक मर्यादा नष्ट होने का भय है । महात्मा मर्यादा पुरुषोत्तम होते है । जैसे स्वर्णकार भी स्वर्ण की समदृष्टि रखता हुआ प्रत्येक आभूषण को उसके लिए उचित अंग पर ही पहनाएगा। उनसे अलग-अलग अंगों को सुसज्जित करेगा ।

अद्वैत भाव की मर्यादा बतलाते हुए आदि शंकराचार्य कहते हैं–

भावेऽद्वैतं कुर्यात् कार्येऽद्वैतं न कश्चित ।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह ॥

अर्थात् भावना में हमेशा अद्वैत करे, कभी भी क्रिया में अद्वैत न करे । तीनों लोकों में अद्वैत करे । गुरु से अद्वैत न करे ;

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥19॥

काव्यानुवाद–

**जिनके मन समता में आएं । जग जीते जग में हो जाएं ।**
**दोष रहित हरि सम ते जाना ; उनको हरि में मिला ठिकाना ॥**

**मूलार्थ :** जिनका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवन में ही सब संसार जीत लिया गया है, क्योंकि निराकार ब्रह्म निर्दोष और सम है, इससे वे (समदर्शी महात्मा) परमात्मा में ही स्थित हैं ।

**भावार्थ :** ब्रह्मज्ञानी महात्मा देह में रहता हुआ भी विदेह होता है और ध्यान (स्मरण) के द्वारा सदैव ब्रह्म में स्थित रहता है । समदृष्टि के कारण किसी के प्रति राग-द्वेष भी व्रह हृदय में नहीं रखता । अतः इस जीवन-काल में ही मुक्ति (जीवन-मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, यानी सारे संसार को जीत लेता है, अर्थात् साकार संसार से ऊपर उठकर निराकार-ब्रह्म में स्थित रहता है । और जीवन-मुक्ति का आनन्द प्राप्त करता रहता है । भक्ति के अन्य लक्षण आगे भी भगवान कृष्ण कहते हैं–

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥20॥

काव्यानुवाद–

**यदि सुख मिले, हर्ष नहि होवे । जो दुख देख कभी नहि रोवे।**
**स्थिर बुद्धि वे मुनि ज्ञानी । हरि में स्थित ते वर प्रानी॥**

**भावार्थ :** व्यवहार में प्रिय-अप्रिय अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में भी जो हर्ष और शोक नहीं करता, वह मोह रहित स्थिर बुद्धिवाला और परमात्मा को (सद्गुरु से) जानने वाला व्यक्ति परमात्मा में ही स्थित रहता है ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥29॥

काव्यानुवाद-

**यज्ञ और तप भोगन वारा । सब का स्वामी सिरजन हारा ।**
**मैं सारे जग का सुख दाता । मुझे जान जन शान्ति पाता ॥**

**मूलार्थ :** मेरा (सत्गुरु की) भक्त मुझको सब यज्ञ और तपों का भोगने वाला, सब लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर तथा सब भूत-प्राणियों का सुहृद अर्थात् स्वार्थ रहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्व से जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ।

**भावार्थ :** जब गुरु भक्त अपने गुरु को ही सब ईश्वरों का ईश्वर, कर्ता, भोक्ता, निस्वार्थ मित्र और ब्रह्म स्वरूप जानता और मानता है, तभी शांति अथवा परमानंद को प्राप्त होता है । यही जीवन मुक्ति है । जैसे भाड़ में भुने हुए चने यदि ज़मीन में बोएं तो कभी नहीं जमेंगे, इसी प्रकार ज्ञान की अग्नि में जिनके कर्म जल गए है अर्थात् अकर्म बन गए हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि उन्हें जीवन काल में ही मुक्ति मिल गई है । वे जीवनमुक्त हैं!

# 8–माया के तीन गुण और त्रिगुणातीत महापुरुष

प्रभु परमात्मा ने त्रिगुणमयी माया से ही सृष्टि का निर्माण किया है । जीव के सब कर्म इन तीनों गुणों से ही होते हैं। अर्थात् त्रिगुणमयी माया ही सब कर्मो की कर्त्ता है और बेचारा जीव स्वयं को कर्त्ता मानकर फँस जाता हैं । इन्हें पार करके ही कोई त्रिगुणातीत होता है ।

गीता के अनुसार ब्रह्म (परमात्मा) कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी । क्योंकि परमात्मा की शक्ति के बिना माया कुछ कर नहीं सकती । अतः भगवान ने स्वयं को कर्त्ता भी कहा है । निर्लेप होने के कारण यह अकर्त्ता भी कहा गया है ।

जीव में शरीर तो माया का कार्य है और आत्मा स्वयं परमात्मा की अंश कही जाती है ।

जिसमें 'नाम' 'रूप' और 'कर्म' (Action) हों, वह माया है और जिसमें ये तीनों न हों बल्कि सत् चित् आनन्द हो वह सच्चिदानन्द अथवा ब्रह्म निराकार परमात्मा है ।

जैसे रात्रि के बिना दिन का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार माया(अज्ञान) के बिना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता । नौ द्वारों (माया) से ही दसवें द्वार निराकार ब्रह्म का ज्ञान होता है.।

गीता में माया के तीनों गुणों का वर्णन विस्तार से मिलता है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गीता में तीनों गुणों–सत रज और तम का प्रयोग कमशः उत्तम, मध्यम ओर अधम के लिए भी हुआ है । अर्थात्

सात्विक - उत्तम (I Class)
राजस - मध्यम (II Class)
तामस - अधम (III Class)

यही कारण है कि यज्ञ, दान, तप, अहार, ज्ञान, कर्त्ता, कर्म, बुद्धि, धृति आदि भी तीन प्रकार के (I, II, III) कहे गए हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिनार्भ दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥14/3॥

काव्यानुवाद–

**जग जननी यह माया प्यारे । जग का गर्भ मुझी से धारे ।**
**जिससे जनमे अग जग सारा । सकल सृष्टि का बहु विस्तारा ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! मेरी (प्रभु की) प्रकृति तो उत्पत्ति–स्थान है और मैं उसमें जीव(चेतन) रूप गर्भ स्थापन करता हूँ, जिससे यानी जड़ चेतन के संयोग से सृष्टि के सारे प्राणी पैदा होते हैं ।

इसलिए–

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥4॥

काव्यानुवाद–

**जीव चराचर अगणित नाना । भांति भांति के सकल जहाना ।**
**सबकी गर्भ धारिणी माया । मैं बीजस्थापक पिता कहाया ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! अलग–अलग योनियों में जितने भी प्राणी पैदा होते है, उन सबकी उत्पत्ति में माता के स्थान पर मेरी (प्रभु की) मूल प्रकृति है और बीज–स्थापन करने में पिता के स्थान पर मैं हूँ।

प्रकृति के गुणों को आगे बतलाते हैं–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥5॥

काव्यानुवाद–

**सत रज तम त्रिगुण ये प्यारे । ये माया ने ही रच डारे ।**
**माया ने ये पाश बनाए । देहों में देही बंध जाए ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन! सत्व (सतोगुण), रज (रजोगुण) और तम (तमोगुण) ये तीनों गुण पैदा तो प्रकृति से होते हैं, पर इनका संग (लिप्सा) करने से ये, अविनाशी देही को अर्थात् जीवात्मा को देह में बांध देते हैं ।

सत्व गुण क्या है और वह कैसे बांधता है ? यह आगे स्पष्ट करते हैं–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बन्धाति सुखसंगेन चानघ ॥6॥

काव्यानुवाद–

**उनमें सतगुण विमल प्रभावा । निर्विकार प्रकाश–स्वभावा।**
**सुख–ज्ञान–आसक्ति करावे । इन अभिमान जीव बंध जावे ।**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! उन तीनों गुणों में सत्वगुण स्वभाव से निर्मल होने के कारण प्रकाशक और निर्विकार है, पर वह सुख और ज्ञान की आसक्ति से देही (जीवात्मा) को देह में बांध देता है।

कामनाएं सभी बन्धन का कारण हैं । अतः सुखी और ज्ञानी बनने की कामना भी भले ही सत्वगुण से प्रेरित हो, तब भी बन्धन का ही कारण है । बिना इच्छा और आसक्ति के, निष्काम भाव से जो सुख और ज्ञान प्राप्त होता है, वह बन्धन का कारण नहीं ।

आगे रजोगुण को स्पष्ट करते है-

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुभ्दवम् ।
तन्निबन्धाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥7॥

काव्यानुवाद-

**रजगुण राग रूप तुम मानो । तृष्णा से प्रगट अस जानो।**
**कर्म-लेप, फल-इच्छा द्वारा । इसमें बंधता जीव बिचारा॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! रजोगुण का स्वरूप 'राग' है तथा यह तृष्णा और आसक्ति पैदा करने वाला है । वह कर्मो की आसक्ति से देही को देह में बांधता है ।

तमोगुण का स्वरूप और उसके बंधन के प्रकार आगे स्पष्ट करते हैं-

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यानिद्राभिस्तन्निबन्धाति भारत ॥8॥

काव्यानुवाद-

**तम गुण अज्ञान से उत्पन जानो।सब जीवों का मोहक मानो ।**
**प्रमादालस्य नींद के द्वारा । इससे बंधता जीव बिचारा ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! तमोगुण का स्वरूप मोह है और यह अज्ञान से पैदा होता है । वह प्रमाद आलस्य और निद्रा के द्वारा देही को देह में बांधता है । कर्तव्य कर्म की अवहेलना या उसमें असावधानी को प्रमाद कहते है ।

बांधने से पहले तीनों गुण क्या करते है ? यह आगे बतलाते हैं-

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥9॥

काव्यानुवाद-

**सतगुण सुख में चित लगाए । रजगुण कर्मों में चिमटाए ।**
**तमगुण पहले ज्ञान भुलाए । फिर प्रमाद में यह लगाए ॥**

**भावार्थ** : हे अर्जुन ! सत्वगुण तो सुख में लगाकर मनुष्य पर अपना अधिकार जमाता है । रजोगुण कर्म में लगाकर मनुष्य पर अपना अधिकार जमाता है और तमोगुण ज्ञान को ढंक कर तथा प्रमाद में लगाकर मनुष्य पर अपना अधिकार जमाता है ।

आगे स्पष्ट करते हैं कि तीनों गुणों से एक गुण मनुष्य पर अपना अधिकार कैसे जमाता है-

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥10॥

काव्यानुवाद-

**दो को दाब तीसरा आए । रज तम दाब सत्त बढ़ जाए ।**
**सत रज़ दाब तमोगुण छाए । तम सत दाब रजोगुण आए ॥**

**भावार्थ** : हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण बढ़ता है । सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोंगुण बढ़ता है तथा सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है ।

बढ़े हुए सतोगुण के लक्षण आगे बतलाते है-

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥11॥

काव्यानुवाद-

**तन में ज्योति-बोध जब गहरे । जानो ये सतगुण के पहरे ॥**
**ज्ञान-ज्योति जब मन में छाए । सतगुण की वृद्धि प्रगटाए ॥**

**भावार्थ : जब देह और इन्द्रियों में चेतनता, अंतःकरण में स्वच्छता और विवेकशक्ति (सत्य-असत्य का निर्णय करने की शक्ति) विकसित होती है, तब जानना चाहिए कि सतोगुण बढ़ा है ।**

बढ़े हुए रजोगुण के लक्षण आगे बतलाते है-

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥12॥

काव्यानुवाद-

**जब रजगुण मन में बढ़ जावे । मानव को बहु लोभ सतावे ।**
**बहुधंधी बहु चंचलताई । इच्छा अधिक, शान्ति नहि पाई ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! जब मन में धन आदि का लालच (लोभ), सकाम क्रिया करने की प्रवृत्ति (धुन) भोग और संग्रह के उद्देश्य से नए नए कामों का आरम्भ करना, अशान्ति, स्पृहा (किसी पदार्थ को अपने लिए आवश्यक मानना) आदि की वृत्तियां (सोच-विचार) बढ़ते हैं, तो जानना चाहिए कि रजोगुण बढ़ा है ।

बढ़े हुए तमोगुण के लक्षण आगे बतलाते हैं-

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥13॥

काव्यानुवाद-

**बढ़ते जब तमगुण अंधियारे । उनके सुन सब लच्छण प्यारे ।**
**कर्तव्यों से मन हट जाए । निद्रा मोह प्रमाद सताए ॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! जब इन्द्रियों और मन में स्वच्छता (समझने की शक्ति) नहीं रहती, किसी कार्य को करने का मन नहीं करता और न करने लायक कामों में मन लग जाता है और अन्तःकरण में मोह का अंधकार छाया रहता है, तब समझना चाहिए कि तमोगुण बढ़ा है ।

मृत्यु के समय किस गुण का क्या प्रभाव होता है ? यह आगे स्पष्ट करते हैं-

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥14॥

काव्यानुवाद-

**जब मन में सतगुण-छवि छाए । उसी समय यदि मृत्यु आए ।**
**उत्तम ज़ीव जहां सब जाएं । स्वर्ग आदि लोकों को पाएं ॥**

**भावार्थ :** जब यह मनुष्य सतोगुण की वृद्धि (बढ़त) में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल दिव्य स्वर्ग आदि लोकों को प्राप्त होता है अर्थात् देवयोनि में जाता है।

तथा–

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥15॥

काव्यानुवाद–

**रजगुण में जो तजे शरीरा । मिलता मानव लोक अधीरा ।**
**अंतसमय तमगुण यदि आए । कीट–पशु–योनि में जाए ॥**

**भावार्थ :** रजोगुण के बढ़ने पर मरने वाला, मनुष्य योनि में जन्म लेता है, और तमोगुण के बढ़ने पर मरने वाला, पशु पक्षी आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ।

इन गुणों से ऐसी गतियां मिलने का कारण आगे बतलाते हैं–

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलंफलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥16॥

काव्यानुवाद–

**सतगुण का फल सुन्दर ज्ञाना।रजगुण का फल दुख पहचाना ।**
**तमकाफल अज्ञान हि होवे। मोह–जाल में जिव फँस रोवे ॥**

**भावार्थ :** गुणों की वृत्तियां जैसे होती हैं, वैसे ही कर्म होते है । इसलिए सात्विक कर्म का फल निर्मल(ज्ञान) होता है, राजस कर्म का फल दुख होता है और तामस कर्म का फल 'अज्ञान' (मूढता) होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे सात्विक आदि गुणों की वृत्तियों का फल होता है, ऐसे ही सात्विक आदि कर्मो का भी फल होता है ।

वृत्तियों और कर्मो के मूल में भी तीनों गुण ही है, यह आगे स्पष्ट करते है–

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसा भवतोऽज्ञानमेव च ॥17॥

काव्यानुवाद-

**सतगुण से पैदा शुभ ज्ञाना। रजगुण से मन लोभ-लुभाना।**
**तम से महा मोह परमादा। जिनसे जन्में विशद विषादा ॥**

**भावार्थ :** सतोगुण से ज्ञान पैदा होता है, रजोगुण से लोभ पैदा होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान पैदा होते हैं।

इन तीनों गुणों में स्थित रहने वालों की जो गति होती है, वह आगे बतलाते हैं-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।18।।

काव्यानुवाद-

**सतोगुणी सुरलोक सिधावें । मृत्युलोक रजस रह जावें।**
**तुच्छ तमोगुण जिनके माहीं । अधम लोक नर पामर जाहीं॥**

**भावार्थ :** सतोगुण में स्थित रहने वाले स्वर्गादि उच्च लोकों में जाते हैं, रजोगुण में स्थित रहने वालों का जन्म मनुष्य लोक में होता है और निन्दनीय तमोगुण में स्थित रहने वाले नरकों आदि में जाते हैं ।

तो फिर भगवान को कौन प्राप्त करता है अथवा ब्रह्मलोक में कौन जाता है ? यह आगे बतलाते है-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मभ्दावं सोऽधिगच्छति ॥19॥

काव्यानुवाद-

**त्रिगुण को कर्त्ता जब जाने । गुणातीत परपुरुष पिछाने ।**
**तब वह जन मम रूप समावे । अपने आवागमन मिटावें ॥**

**भावार्थ :** जब 'दृष्टा' कर्मों का कर्त्ता केवल गुणों (सत, रज, तम) को ही देखता है (अन्य को नहीं) और अपने को गुणों से अतीत अनुभव करता है, वह मेरे (निराकार ब्रह्म के) स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।

नाम रूप और किया ये तीनों, माया और उसके गुणों मं है, गुणातीत आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं । मै (प्रभु) अनाम, अरूप और अक्रिय, देशकाल और कर्त्तापन से पूरे त्रिगुणातीत शान्त एकरस शुद्ध आत्मतत्व हूँ, ऐसा अनुभव करना ही ब्रह्मभाव को प्राप्त होना है ।

ऐसा अनुभव करने अथवा ब्रह्मभाव को प्राप्त करने का फल आगे बतलाते हैं-

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुभ्दवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥20॥

काव्यानुवाद-

**माया के तीनों गुण कारण । जिनसे जीव करे देह धारण।**
**इन तीनों को जो लँघ जाए । परमानंद परम पद पाए॥**

**भावार्थ :** यह व्यक्ति शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप इन तीनों गुणों (सत, रज और तम) का उल्लंघन करके (अथवा इनसे पार हो के) जन्म मृत्यु वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द (सहज अवस्था अथवा जीवनमुक्ति की अनिर्वचनीय स्थिति) को प्राप्त होता है । अमरता का अनुभव करता है ।

अज्ञानावस्था में देही स्वयं को देह मानकर जन्म जरा मरणादि दुःखों का भ्रान्तिवश अपने में अनुभव करके दुखी होता रहता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर ज्यों ही वह देह और क्रियाओं को माया के त्रिगुणों का परिणाम जानता है और स्वयं को त्रिगुणातीत अनुभव करता है, तो अमरता का आनन्द प्राप्त कर लेता है ।

अब त्रिगुणातीत संत के लक्षण आगे बतलाते हैं-

अर्जुन उवाच

कैर्लिगङैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥21॥

काव्यानुवाद-

**गुणातीत जन के क्या लक्षण। कहिए केशव ज्ञान विचक्षण।**
**क्या स्वभाव? कैसे आचारा? गुणातीत रहें कवन प्रकारा?॥**

**भावार्थ :** यहाँ अर्जुन पूछते हैं कि त्रिगुणातीत महात्मा के लक्षण और आचरण कैसे होते हैं ?

इसका उत्तर भगवान आगे दे रहे हैं-

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥22॥

काव्यानुवाद-

**त्रिगुण-फल पहले जो भाषा। मोह, प्रवृत्ति, परम प्रकाशा।**
**यदि आएं तो बुरा न मानें। नहीं मिलें, तो चाह न आने॥**

**भावार्थ :** जो साक्षी के समान स्थित हुआ, विचलित नहीं होता और गुण ही गुणों में बरतते हैं- ऐसा समझता हुआ अपने स्वरूप ब्रह्म में ही स्थित रहता है अर्थात् सतोगुण की प्रकाश (ज्ञान), रजोगुण की प्रवृत्ति और तमोगुण की मोह- इन तीनों वृत्तियों के आने पर इनसे द्वेष नहीं करता और इनके न आने पर इनकी इच्छा नहीं करता, त्रिगुण को कर्त्ता मानता हुआ स्वयं अकर्त्ता स्थिर और चेष्टारहित अपने आपको अनुभव करता हुआ निज स्वरूप ब्रह्म में स्थित है, वही त्रिगुणातीत महात्मा है ।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेगङते ॥23॥

काव्यानुवाद-

**जो साक्षी सम स्थिर होवे।सुख में हँसे न दुःख में रोवे ।**
**त्रिगुण का सब जगत पसारा । ज्ञानी स्थिर सर्व-नियारा ॥**

**भावार्थ :** जो साक्षी के सदृश्य स्थिर रहता हुआ प्रकृति के तीनों गुणों से विचलित नहीं होता और सब कार्य गुणों से ही हुए मानता है तथा ऐसा समझता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और ऐसा विचार करके ही जो आत्म तत्व (निराकार ब्रह्म) में ही एकीभाव से स्थित रहता है (वह गुणातीत है) ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥24॥

काव्यानुवाद-

**सुख दुख दोनों सम करि जाने । माटी-कंचन एक पिछाने ।**
**निंदा कीरति एकहि माने । प्रिय-अप्रिय में भेद न जाने ॥**

**भावार्थ :** जो निरंतर आत्म भाव में स्थित हुआ, दुख-सुख को समान समझने वाला, मिट्टी पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला, ब्रह्म को जानने वाला (ज्ञानी), प्रिय तथा अप्रिय को एकसा मानने वाला और अपनी निंदा-स्तुति में समान भाव वाला है ।

तथा-

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीः स उच्यते ॥25॥

काव्यानुवाद-

**मित्र-शत्रु सब सम करि लेखे। मान-अपमान भेद नहि देखे।**
**कर्त्तापन का नहि अभिमाना। गुणातीत वह व्यक्ति सुजाना॥**

**भावार्थ :** जो मान और अपमान में सम रहता है । मित्र और शत्रु में भी समदृष्टि रखता है, एवं सारे कर्मों में कर्त्तापन के अभिमाान से रहित है, वह व्यक्ति गुणातीत महापुरुष कहा जाता है ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥26॥

काव्यानुवाद-

**जो जन मुझ में निज मन लावे। भेद-भाव जो सकल मिटावे॥**
**मेरा भक्त त्रिगुण तर जावे। जीवन मुक्ति परम पद पावे॥**

**भावार्थ :** जो व्यक्ति अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मुझ को (सद्गुरु को साकार रूप में निराकार भाव से) निरंतर भजता है, वह भी इन तीनों गुणों को भली भांति लांघ कर जीवन मुक्ति का पात्र बन जाता है ।

क्योंकि-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥27॥

काव्यानुवाद-

**अविनाशी जो ब्रह्म अखण्डा । सदा सनातन धर्म प्रचण्डा।**
**जगविष मांहिसुधारस जानो । सबका आश्रय मुझ को मानो॥**

**भावार्थ :** अविनाशी परब्रह्म का, अमृत का, सनातन (शाश्वत) धर्म का, और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय (आधार) मैं (ईश्वर) ही हूँ ।

यहाँ परब्रह्म, अमृत, सनातन धर्म और अखण्ड एकरस आनन्द- ये चारों अविनाशी निराकार ब्रह्म के ही पर्याय (समानार्थक शब्द) हैं । ऐसे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का आधार सदैव सद्गुरु ही होता है, जिसकी कृपा से जिज्ञासु इस अमृत आनंद का अनुभव करता है । ऐसा संत ही जीवनमुक्त, त्रिगुणातीत अथवा चौथे पद (तुर्यावस्था) का महात्मा है ।

# 9–देवता और राक्षस
## (देवासुर सम्पद विभाग)

सद्‌गुणों और दुर्गुणों के आधार पर ही मानव, देवता या राक्षस बन जाते हैं । राक्षसों की कोई अलग मानवों से भिन्न जाति नहीं। यह मान्यता सभी धर्म ग्रन्थों में देखने को मिलती है ।

गीता ने इस पर विचार करते हुए उन सद्‌गुणों और दुर्गुणों पर विस्तृत विचार किया है, जिनके आधार पर कोई मनुष्य सुर श्रेणी में अथवा असुर श्रेणी में गिना जा सकता है ।

तमोगुणी दानव हैं, रजोगुणी मानव हैं, सतोगुणी देवता हैं और इन तीनों से भी श्रेष्ठ वे तत्वदर्शी संत है जो त्रिगुणातीत होकर सहज अवस्था में आ गए है ।

सद्‌गुणों को सुर सम्पत्ति कहा गया है और दुर्गुणों को असुर सम्पत्ति । सद्‌गुण 26 है जो इस प्रकार बताए गए हैं–

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥16/1॥

काव्यानुवाद–

**निर्भय, मन निर्मलता–भावा। ज्ञान–स्थिति विविध उपावा।**
**दानशीलता दम यग–भावा । स्वाध्याय सुभ सरल स्वभावा॥**

**भावार्थ :** दैवी सम्पदा का वर्णन करते हुए भगवान कहते है किं हे अर्जुन ! 1.मेरे दृढ़ भरोसे से निर्भीक (निडर) रहना, 2.मुझे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय होना, 3. हर परिस्थिति में मन एक समान रहना, 4. सात्विक दान (सेवा) करना, 5. इन्द्रियों को वश में करना,

6. अपने कर्तव्य का पालन करना, 7. शास्त्रों के सिद्धान्तों को जीवन में उतारना, 8. कर्तव्य-मार्ग के कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना, 9. तन,मन और वाणी की सरलता (सीधापन या निष्कपटता)

तथा-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम् ॥2॥

काव्यानुवाद-

**सत्य, अहिंसा, क्रोध न आवे।त्यागी, शान्त, न चुगली खावे।**
**जीव-दया, नहि मन में लोभा । अचंचल, लाज, नम्रता, शोभा॥**

**भावार्थ :** 10. अहिंसा (तन-मन-वाणी से किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट न देना), 11. सत्य (जैसा देखा सुना या समझा उसे प्रिय शब्दों में परिहितार्थ कह देना), 12. किसी पर कभी क्रोध न करना, 13. सांसारिक कामनाओं का त्याग करना, 14.अंतःकरण में राग-द्वेष जनित हलचल न होना, 15. चुगली न करना, 16. सब प्राणियों के प्रति दया-भाव होना, 17. सांसारिक माया (देह धन आदि) में न ललचाना, 18. हृदय का कोमल होना, 19. अकर्तव्य कर्म करने में लज्जा होना, 20. चपलता (उतावलापन) न होना ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥3॥

काव्यानुवाद-

**तेज क्षमा धृति निर्मल भावा।सदा अमान अवैर स्वभावा।**
**दैवी सम्पत्ति वाले जो जन । अर्जुन उनके हैं ये लच्छन॥**

**भावार्थ :** 21. शरीर और वाणी में तेज (प्रभाव) होना, 22. अपने में दण्ड देने की क्षमता और अधिकार होने पर भी अपराधी के अपराध को क्षमा कर देना, 23. धैर्य रखना, 24. शरीर को शुद्ध रखना, 25. बदला लेने की भावना न होना,

26. अपने प्रति श्रेष्ठता का भाव(मान) न होना । ये 26 गुण, दैवी सम्पदा प्राप्त मनुष्य के लक्षण है ।

अब आसुरी सम्पदा वाले दुष्टों के लक्षण आगे बतलाते हैं–

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

काव्यानुवाद–

**दम्भ दर्प मान मन लाएं । अति क्रोधी कटु वचन सुनाएं।**
**मन में नित अज्ञान हि धारे। अर्जुन असुर सम्पदा वारे॥**

**भावार्थ :** 1. दिखावट (पाखण्ड) करना, 2. घमण्ड करना यानी ममता वाली वस्तुओं के कारण अपने में बड़प्पन का अनुभव करना, 3. अहंता वाली चीजों को लेकर अभिमान करना, 4. क्रोध करना, 5. मन, वाणी, बर्ताव आदि में कठोरता रखना, 6. सत् असत् कर्तव्य–अकर्तव्य आदि के ज्ञान (विवेक) को महत्व न देना ।

हे अर्जुन, ये सभी आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति के लक्षण है अर्थात् इन लक्षणों वाला व्यक्ति प्रायः मेरी (प्रभु की) भक्ति का अधिकारी नहीं होता ।

यहाँ यह शंका होती है कि क्या दुराचारी भक्ति का अधिकारी नहीं ? हाँ, प्रायः नहीं होता । परन्तु यदि कोई दुराचारी मनुष्य भी अनन्य भाव से भगवान की भक्ति में लग जाता है, तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता हैं । अर्थात् उसमें भगवान की कृपा से दैवी सम्पदा के लक्षण शीघ्र आ जाते है (गीता 9/30–31)

अब आगे दोनों सम्पदा वाले व्यक्तियों को मिलने वाला फल बतलाते हैं–

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥5॥

काव्यानुवाद-

**दैवी सम्पत्ति मुक्ति-हित जानो। आसुरी बन्धन-कारण मानो।**
**शोक करो मत कुन्ति कुमारा। दैवी सम्पत्ति जन्म तुम्हारा॥**

**भावार्थ :** दैवी सम्पदा मुक्ति देने वाली है और आसुरी सम्पदा बन्धन में डालने वाली होती है, परन्तु हे अर्जुन तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि तुम दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए हो ।

आसुरी सम्पदा बन्धनकारक कैसे होती है ? यह आगे बतलाते हैं-

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ॥6॥

काव्यानुवाद-

**दो प्रकार के प्राणी जानो। इक दानव इक देव पिछानो।**
**सुर-स्वभाव कहा विस्तारे। असुर-स्वभाव सुनो अब प्यारे॥**

**भावार्थ :** इस दुनिया में दो तरह के प्राणी हैं- दैवी सम्पदा वाले देवश्रेणी के संत महात्मा और आसुरी सम्पदा वाले असुर स्वभाव के दुष्ट लोग । दैवी सम्पदा वालों को मैंने विस्तार से कह दिया। अब हे पार्थ ! आसुरी सम्पदा वालों के लक्षण (और कारनामे) विस्तार से सुनो ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥7॥

काव्यानुवाद-

**कार्य अकार्य असुर नहिं जानें। बुरे कर्म की ही हठ ठानें।**
**नहीं शौच ना शुभ आचारा। सत्य-झूठ का नहीं विचारा।।**

**भावार्थ :** आसुरी सम्पदा वाले दुष्ट लोग नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं । उनमें न तो शौचाचार(बाहरी स्वच्छता) होता है और न सदाचार (श्रेष्ठ आचरण) ही । सत्य-पालन भी उनमें नहीं होता ।

तथा–

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥8॥

काव्यानुवाद–

**आश्रयहीन सकल जग जानें। ईश्वर को मिथ्या मन मानें।**
**केवल भोग हेतु संसारा। नर–नारी से उपजा सारा॥**

**भावार्थ :** उनकी दृष्टि ही विपरीत होती है । वे यही कहते हैं कि संसार का कथित आश्रय परमात्मा, धर्म आदि सब असत्य हैं। शास्त्र आदि भी असत्य हैं । यहां धर्म–अधर्म, पुण्य–पाप आदि की कोई मर्यादा नहीं । इस संसार को रचने वाला कोई ईश्वर नहीं । स्त्री–पुरुष के संयोग मात्र से ही यह संसार पैदा होता रहता है । इसलिए इस संसार की उत्पत्ति का कारण काम ही है । इसके अलावा कोई और कारण नहीं ।

तथा–

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥9॥

काव्यानुवाद–

**मिथ्या ज्ञान हिये में धारें। नष्ट स्वभाव, अज्ञ, मतिमारे।**
**क्रूर कर्म करते अपकारी। जग के नाश हेतु देह धारी॥**

**भावार्थ :** उपर्युक्त नास्तिक दृष्टि का आश्रय लेने वाले वे लोग अपने नित्य स्वरूप (आत्मा) को नहीं मानते । उनकी बुद्धि तुच्छ और कर्म अत्यन्त उग्र (भयानक) होते हैं । वे जगत के शत्रु होते है । ऐसे मनुष्यों की शक्ति जगत के नाश करने के लिए ही होती है ।

काममाश्रित्य दूष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥10॥

काव्यानवाद-

**दम्भ द्वेष मान मन धारे। बहुत कामना इच्छा वारे।**
**मोह माया असत्य अपनाएं। कठिन कामना जग भरमाएं॥**

**भावार्थ :** वे कभी पूरी न होने वाली कांमनाओं का आश्रय लेकर दम्भ अभिमान और मद में चूर रहने वाले तथा अपवित्र नियमों को धारण करने वाले मनुष्य, मोह के कारण अनेक दुराग्रहों (जिद या हठ) को पकड़ कर संसार में विचरते रहते हैं ।

उनके भाव कैसे होते हैं ? ये आगे बतलाते हैं-

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥11॥

काव्यानुवाद-

**चिंता चिता दग्ध तन रागा। विषय-भोग में ही मन लागा।**
**कहते यही जीवन उद्देशा। बस यह ही आनंद अशेषा॥**

**भावार्थ :** वे मृत्यु तक रहने वाली बड़ी बड़ी चिंताओं रूपी चिताओं में जलते रहते हैं । पदार्थों के संग्रह और भोगों में लगे रहने वाले ये लोग ऐसा निश्चय किए होते हैं कि सुख-भोग और संग्रह से अधिक और कुछ इस संसार में नहीं ।

उनका उद्देश्य आगे बतलाते हैं-

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥12॥

काव्यानुवाद-

**आशा-पाश बंधे नित डोलें। कामी, परुष वचन नित बोलें।**
**भोगहेतु अति करें अनीती। संग्रह संचय में अति प्रीती॥**

**भावार्थ :** सैकड़ों आशाओं की फाँसियों में अपना गला फंसाए हुए ये मनुष्य काम और क्रोध के परायण होकर केवल भोग भोगने

के उद्देश्य से ही अन्यायपूर्वक धन का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं ।

इनके मनोरथ कैसे होते है ? यह आगे बतलाते हैं–

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥13॥

काव्यानुवाद–

**आज वस्तु मैंने यह पाई। कल को ज्यादा करूँ कमाई।**
**यह धन आज अवश पाऊंगा। और अधिक कल को लाऊंगा॥**

भावार्थ : आज इतना धन तो मैंने प्राप्त कर लिया है तथा और अधिक मनोरथ (मन को संतुष्ट करने वाला पदार्थ) कल मैं और प्राप्त करूँगा । इतना धन तो मेरे पास है और यह इतना धन मेरे पास अगले वर्षो में फिर हो जाएगा । इससे मै मशहूर धनवान हो जाऊंगा ।

तथा–

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥14॥

काव्यानुवाद–

**यह शत्रु मैं आज पछारा। करूं अन्य का कल संहारा।**
**मैं समर्थ, धनी, मैं भोगी। सुखी सिद्ध मैं हूं प्रभु योगी॥**

भावार्थ : अमुक शत्रु तो मेरे द्वारा मारा जा चुका है अब दूसरे शत्रुओं को भी शीघ्र ही मै मार डालूंगा । मै सर्व समर्थ हूं, सिद्ध हूं, सुखी हूं, बलवान हूं और अनेक भोग भोगने वाला हूं। मेरे साथ बहुत लोग हैं । हमारे समान अन्य कौन हो सकता है ?

तथा–

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता: ॥15॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता: ।
प्रसक्ता: कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥16॥

काव्यानुवाद–

**धनी कुलीन कुटुम्बी ऐसा। अन्य नहीं कोइ मेरे जैसा।**
**यज्ञ दान हंकार जतावै। मोह जनित झूठे सुख पावै ॥**

**बहु विधि भ्रांत चित्त मतवाले। पड़ मोहमाया के जंजाले।**
**विषय भोग आसक्ति धारे। अशुभ नरक गिरते मतवारे॥**

**भावार्थ :** मैं धन–धान्य सम्पन्न हूँ, कुलीन हूँ, बड़े परिवार वाला ऐसा हूँ, जैसा अन्य कोई नहीं । हो भी कौन सकता है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे, और फिर मौज करेंगे । इस प्रकार अज्ञान से मोहित होकर विविध मनोरथ करते रहते हैं । तरह तरह के भ्रमों में पड़े, मोह–जाल में उलझे हुए तथा पदार्थो के संग्रह और भोग में आसक्त हुए वे मनुष्य भयंकर नरकों में गिरते हैं ।

तथा–

आत्मसंभाविता: स्तब्धा धनमानमदान्विता: ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥17॥

काव्यानुवाद–

**निज को ही अति उत्तम माने। धन, मद, मान, बने दीवाने।**
**नाम मात्र यग दान करावें। विधिहीन अति दम्भ बढ़ावें॥**

**भावार्थ :** वे अपने को श्रेष्ठ मानने वाले, अकड़ (अहंकार) रखने वाले तथा धन और मान के मद में चूर रहने वाले होते हैं । वे यज्ञ आदि शुभ कर्म भी दम्भ (दिखावे) और अविधिपूर्वक तथा नाममात्र के लिए ही करते हैं ।

तथा–

अहंकारं बलं दर्पं कोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु –प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥18॥

काव्यानुवाद–

**दर्प काम बल अति हंकारी। पर निंदा निज मन में धारी ।**
**निज–पर–देह एक अविनासी। मुझ से द्वेष करें अघरासी ॥**

**भावार्थ :** वे पापी लोग अहंकार, हठ, घमण्ड, काम और क्रोध का आश्रय लिए रहते हैं । वे अपने और दूसरों के शरीरों में रहने वाले मुझ अंतर्यामी (ईश्वर) से द्वेष करने वाले होते हैं तथा मेरे और दूसरों के गुणों में भी दोष–दृष्टि रखते हैं ।

तथा–

तानहं द्विषतः कूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥19॥

काव्यानुवाद–

**क्रूर नराधम पापाचारी। जिनकी मोह माया मतिमारी ।**
**उन दुष्टों का सुनो हवालू। असुर योनि उनको मैं डालूं॥**

**भावार्थ :** उन द्वेष करने वालों को, क्रूर स्वभाव वालों को, और संसार में महा नीच और अपवित्र मनुष्यों को मै बार–बार (कुत्ता, सुअर, गधा, कौवा, उल्लू, गीध, सांप, बिच्छू आदि की) आसुरी योनियों में डालता हूँ ।

तथा–

आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥20॥

काव्यानुवाद–

**पुनि पुनि नीच योनि में जावें। आवागमन घोर गति पावें।**
**मुझ को प्राप्त कभी नहिं होवे। अधमाधम गति में पड़ रोवें॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन, वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके जन्म-जन्मान्तरों में आसुरी योनियों को प्राप्त होते है और फिर उससे भी अधिक अधम गति में अर्थात् भयंकर नरकों में चले जाते हैं ।

उनके अधम योनियों में जाने का कारण आगे बतलाते हैं-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥21॥

काव्यानुवाद-

**तीन नरक के द्वार कहाए। काम क्रोध अरु लोभ बताए।**
**आत्म नाश नित करनेहारे। इन तीनों को तजो पियारे॥**

**भावार्थ :** काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के दरवाजे मनुष्य का पतन करने वाले है । इसलिए इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए ।

इनका त्याग करने से जो लाभ होता है, वह आगे बतलाते है-

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥22॥

काव्यानुवाद-

**ये जो नरक द्वार कहलाए। इन तीनों को जो तज पाए।**
**निज कल्याण-मार्ग अपनाए। अर्जुन वहीं परम पद पाए॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन, जो व्यक्ति नरक के इन तीनों द्वारों (काम-क्रोध-लोभ) को छोड़कर कर्तव्य कर्मो को करता हुआ अपने कल्याण का आचरण करता है, यानी निष्काम भाव से कर्म करता हुआ मर्यादा का पालन और आत्मज्ञान के साधन करता है, वह परमगति को प्राप्त हो जाता है ।

अब आगे यह बतलाते हैं कि परमगति किसको प्राप्त नहीं होती-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोन्ति न सुखं न परां गतिम् ॥23॥

काव्यानुवाद–

**जो जन शास्त्र विधी को त्यागे। मनमानी ही करने लागे।**
**सारी सिद्धि हाथ से खोवे। नहिं सुख शान्ति परम गति होवे॥**

**भावार्थ :** जो शास्त्र-विधि का त्याग करके अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, अर्थात् अपने मन से जिस काम को अच्छा मानता है, वही करता है और जिसे मन न माने उसे नहीं करता, ऐसे मनमतिये मनुष्य को न तो सिद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि) ही प्राप्त होती है, न सुख प्राप्त होता है और न परमगति ही प्राप्त होती है ।

अच्छे और बुरे कर्मों की पहचान की कसौटी आगे बतलाते हैं–

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥24॥

काव्यानुवाद–

**कार्य अकार्य शास्त्र से मानो। परम प्रमाण उसे ही जानो ।**
**जैसे शास्त्र कहे सुन प्यारे। वही कर्म कर, वचन हमारे ॥**

**भावार्थ :** कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में शास्त्र (महापुरुषों द्वारा लिखे गए आध्यात्मिक ग्रंथ) ही प्रमाण हैं– यह जानकर तुझे शास्त्र-विधि से नियत किए कर्तव्य कर्मों को ही निष्काम भाव से करना चाहिए । (महापुरुषों या सद्गुरु की वाणी वचन या आदेश उपदेश भी शास्त्र ही समझने चाहिएं, भले ही वे मौखिक हों और चाहे ग्रंथ रूप में न भी हों)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥17/5॥

काव्यानुवाद-

**शास्त्र विरुद्ध घोर तप करते । वे जन दुखी व्यर्थ ही मरते।**
**वे जानों दम्भी हंकारी । बल अभिमान स्वेच्छाचारी॥**

**भावार्थ :** जो मनुष्य शास्त्र-विधि से रहित केवल मनःकल्पित घोर तप को तपते है तथा दम्भ (दिखावे) और अहंकार से युक्त तथा कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं।

तथा-

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥6॥

काव्यानुवाद-

**सर्वभूत तन देत सुखाही। उर में मुझको कृशित कराहीं।**
**असुर स्वभाव साधक ते जानो। तामस तप उनका पहचानो॥**

**भावार्थ :** जो शरीर रूप में स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण (केन्द्र यानी सब के मूल) में स्थित परमात्मा को भी कृश करने वाले है । उन अज्ञानियों को तू असुर स्वभाव वाले जान।

शरीर में करोड़ों जीवित कोशिकाएं (Living cells) है, जो शरीर का निर्माण करती है और शरीर में ही स्थित हैं । हमारे द्वारा पिया पानी या खाया हुआ खाना उन सभी जीवाणुओं तक पहुँचता है। इसी प्रकार घोर तप करने वाले या अन्न-जल-त्यागने वाले लोग उस सभी भूत समुदाय को कष्ट देने वाले होते है । ये आसुरी स्वभाव वाले लोग घोर तप करके सबके केन्द्र (हृदय) में सर्वत्र रहने वाले परमात्मा को भी कष्ट देते हैं । यही भगवान का अभिप्राय है ।

# 10–यज्ञ–दान–तप

## (सिमरन–सेवा–सत्संग)

परोपकार के प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य को यज्ञ की श्रेणी में रखा जा सकता है । माता, पिता, अतिथि और गुरु की ब्रह्म–भाव से श्रद्धापूर्वक सेवा सनातन धर्म में उत्तम कोटि के यज्ञ कहे गए हैं।

गीता 10/25 में कहा गया है कि मै यज्ञों में 'जप यज्ञ' (सिमरन) हूँ । दान और तप के विषय में भी गीता में भगवान की मान्यता महत्वपूर्ण है ।

यहाँ भगवान अर्जुन को कह रहे है कि सद्गुरु से प्राप्त ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ 14/33॥

काव्यानुवाद–

**ज्ञान श्रेष्ठ द्रव यग से भ्राता। ज्ञानयज्ञ उत्तम कहलाता।**
**पार्थ, ज्ञान जब जो जन पावें। करम भरम सारे मिट जावें॥**

**मूलार्थ :** हे अर्जुन, द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा 'ज्ञानयज्ञ' अति श्रेष्ठ है और सारे कर्म (तथा कर्मज यज्ञ) ज्ञान में समाप्त हो जाते है ।

**भावार्थ :** ब्रह्मज्ञान के बिना अहंकार समाप्त नहीं होता और कर्मो तथा कर्मज यज्ञों में अहंकार होगा तो वे बन्धन का कारण बनेंगे।

अब प्रश्न उठता है कि इस ब्रह्मज्ञान (तत्व ज्ञान) की प्राप्ति कहां से और कैसे होगी ? इसका उत्तर अगले दो श्लोकों में है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 4/34 ॥

काव्यानुवाद-

**नमस्कार कर दण्ड समाना। विनय, प्रश्न, सेवा विधि नाना।**
**ब्रह्मनिष्ठ गुरु सज्जन धीरा। देकर ज्ञान हरे भव-पीरा॥**

**मूलार्थ :** उस तत्व-ज्ञान को तू तत्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ । उनको भली भांति दण्डवत प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़ कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से, वे परमात्मा तत्व को भलीभांति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे तत्वज्ञान का उपदेश (दीक्षा) देंगे ।

**भावार्थ :** यहां गीता की उद्घोषणा है कि ब्रह्मज्ञान केवल ब्रह्मज्ञानी महात्मा से ही प्राप्त होता है ।

कैसे प्राप्त होता है ? इसकी विधि बतलाई है कि तत्वदर्शी महात्मा के पास जिज्ञासु जाकर डण्डे की तरह उसके चरणों के पास जमीन में लेटकर (दण्डवत) प्रणाम अथवा नमस्कार करे, फिर अपनी निष्कपट सेवा से उस महात्मा (सद्गुरु) से ब्रह्मविषयक प्रश्न पूछे (जैसे ब्रह्म क्या है ? मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ तो मुझे क्या करना होगा ? आदि) तब कृपालु सद्गुरु जिज्ञासु को ब्रह्म दर्शन कराते हैं ।

इस कथन से भगवान ने ज्ञान की प्राप्ति में श्रद्धा, भक्ति और सरलता की आवश्यकता बतलाई है, क्योंकि श्रद्धा-भक्ति-रहित व्यक्ति को दिया हुआ ज्ञान जिज्ञासु द्वारा ग्रहण नहीं होता। इसी कारण ज्ञानदाता महापुरुषों को प्रणाम सेवा आदर-सत्कार की कोई आवश्यकता न होने पर भी वे यह तो देखते है कि जिज्ञासु अभिमानपूर्वक, उद्दण्डता से, परीक्षा लेने हेतु या कपट-भाव से तो प्रश्न नहीं कर रहा है, यदि ऐसा है, तो उनके मुखारविन्द से ज्ञान नहीं निकलेगा । अगर जिज्ञासु में सेवा-भाव, श्रद्धा, सरलता, निष्कपट भाव और प्रभु को जानने की तीव्र इच्छा है, तो जैसे बछड़े को देखकर गौ के स्तनों से और अपने शिशु को देखकर माता की छाती से दूध का स्रोत फूट पड़ता है, वैसे ही ज्ञानदाता महापुरुषों

के हृदय में उस अधिकारी जिज्ञासु को दीक्षा (ज्ञान) देने के लिए ज्ञान का समुद्र उमड़ जाता है ।

मुण्डकोपनिषद (1.2.12) में भी इसी का समर्थन किया गया है कि–

"तद्विज्ञानार्थ सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"

अर्थात् उस तत्वज्ञान को जानने के लिए जिज्ञासु यथाशक्ति भेंट (समिधा) हाथ में लिए हुए निरभिमानी होकर ब्रह्मनिष्ठ महात्मा पुरुष (गुरु) के पास जावे ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गीता के इस श्लोक का भाव यह नहीं कि ज्ञानदाता केवल कृष्ण भगवान ही हैं, बल्कि भाव यह है कि किसी समय में कोई भी श्रद्धालु जिज्ञासु अपने समय के तत्वज्ञानी सद्गुरु द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है । इसका अर्थ यह भी है कि वर्तमान सद्गुरु ही कल्याण कर सकता है । जिनका शरीर समाप्त हो चुका है, उनके प्रति श्रद्धा दिखाने से ज्ञान होने वाला नहीं । तत्वज्ञान से लाभ क्या होगा ? यह आगे बतलाते हैं–

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥4/35॥

काव्यानुवाद–

**जिसे जान फिर मोह न होवे। रोग शोक से कभी न रोवे।**
**आतम में दीखे सब कोइ। आतम का लय मुझ में होई॥**

**मूलार्थ :** जिस (आत्मतत्व) को जानकर तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा, तथा हे अर्जुन जिस ज्ञान के द्वारा तू सब जड़-चेतन को पूर्ण रूप से पहले अपने में (अपनी आत्मा में) और पीछे मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा में देखेगा ।

**भावार्थ :** सच्चिदानन्द निराकार परमात्मा का अवतार ही सद्गुरु होता है । ब्रह्मज्ञान होने पर जिज्ञासु पहले अपनी आत्मा में जगत

को देखता है, तो वह ब्रह्मज्ञानी कहलाता है और अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) की स्थिति पर पहुंचता है । तत्पश्चात् आत्म सहित सबको सद्गुरु में देखता है तो तत्वमसि (तू ब्रह्म है) की स्थिति में समर्पित होकर भक्त कहलाता है । ये बातें भी सब कहने-सुनने और लिखने-पढ़ने के लिए ही हैं वरन यहां पहुँच कर मैं, मेरे और तू-तेरे का कोई भेद ही नहीं रहता । अर्जुन के मन में अपने पराए (पाण्डव दल-कौरव दल) का जो मोह पैदा हो गया था, इस प्रकार का मोह सब जीवों के मन में होता है । इस ब्रह्मज्ञान से वह मोह इस प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्य निकलने पर अंधकार । तब पता चलता है कि कौन वस्तु क्या है । मोह के अंधकार में तो कुछ पता ही नहीं चलता ।

क्या पापी भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते है ? इसका उत्तर आगे देते हैं-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥4/36॥

काव्यानुवाद-

यदि तू सब से बढ़ कर पापी। निज को जाने अति संतापी।
तब भी पाप-सिंधु से भाई। ज्ञान-यान-तुरत तर जाई॥

**मूलार्थ :** अगर तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू (इस) ज्ञान रूपी नाव द्वारा निस्सन्देह सारे पाप-समुद्र (भवसागर) से भली भांति पार हो जाएगा ।

**भावार्थ :** जैसे डॉक्टर के पास इलाज के लिए रोगी ही जाते हैं, स्वस्थ नहीं जाते, इसी प्रकार सद्गुरु के पास ज्ञान के लिए पापी ही जाते हैं और पाप से मुक्त तो ज्ञान के पश्चात् ही होते हैं, क्योंकि पाप से छुटकारा दिलाने की शक्ति तो ब्रह्मज्ञान में ही है ।

वास्तव में पाप-पुण्य का सम्बन्ध कर्म से है और केवल ज्ञान में ही इतनी शक्ति है कि वह कर्मो को जलाकर अकर्म कर देता है । यही बात आगे स्पष्ट की गई है-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥4/37॥

काव्यानुवाद-

**जिमि जलती अगनी के मांही। ईंधन अमित तुरत जल जाही।**
**तैसेइ ज्ञान अगनि अति पूता। सर्व कर्म कर भस्मीभूता॥**

**मूलार्थ :** क्योंकि हे अर्जुन, जैसे जलती हुई अग्नि, ईधन के (विशाल) समूह को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को भस्म कर देती है (और जब सारे कर्म अकर्म हो जाते हैं, तो व्यक्ति पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है)।

**भावार्थ :** जन्म जन्मान्तरों के सारे कर्म, जिनका फल भोगने के लिए अनेक देह धारण करने पड़ते हैं नष्ट हो जाते हैं, तो व्यक्ति मुक्त हो जाता है । इतना ही नहीं, बल्कि मुण्डकोपनिषद (2.2.8) में तो यहाँ तक कहा गया है कि उस परात्पर परमात्मा का दर्शन करके जड़-चेतन यानी शरीर और आत्मा की एकता रूपी ग्रंथी (गांठ) खुल जाती है, सारे सन्देह और भ्रम नष्ट हो जाते हैं और सारे कर्म, फल सहित नष्ट हो जाते है ।

सद्‌गुरु से मिलने वाला ब्रह्मज्ञान ही सर्वाधिक पतितपावन है, यह अगले श्लोक में बतलाते है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥4/38॥

काव्यानुवाद-

**ज्ञान समान न पावन कोई। निश्चय जान जगत जड़ जोई।**
**समता योग चमक उजियाला। अपने में अनुभव चिरकाला॥**

**मूलार्थ :** इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्सन्देह (अन्य) कुछ भी नहीं । उस ज्ञान को चिरकाल से कर्मयोग के द्वारा शुद्ध हृदय का मनुष्य अपने आप ही आत्मा में अनुभव करता है ।

**भावार्थ :** जैसे डाक्टर के इलाज द्वारा मिला हुआ स्वास्थ्य रोगी को अपने अन्दर आप ही अनुभव होता है, इसी तरह सद्‌गुरु से प्राप्त यह ब्रह्मज्ञान भी जिज्ञासु को अपने आप ही अपनी आत्मा में अनुभव होता है । वास्तव में ज्ञान वह नहीं जो कहा जाये, सुना जाये, लिखा जाये या पढ़ा जाये बल्कि वास्तविक ज्ञान तो वही है, जो अनुभव किया जाये और जिसका प्रभाव कर्मो पर भी दिखाई दे, यानी भेद-भाव, ईर्ष्या द्वेष आदि की भावना समाप्त हो जाए ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥4/39॥

काव्यानुवाद-

**श्रद्धावान पाव यह ज्ञाना। तत्पर, वश कर इन्द्रिय नाना।**
**जब यह ज्ञान हिये में आवे। पल में परम शांति मिल जावे॥**

**मूलार्थ :** जितेन्द्रिय जिज्ञासु और श्रद्धावान मनुष्य (ही) ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर तुरन्त (तत्काल ही) परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

**भावार्थ :** किसी गुफा में भले ही सदियों का अन्धकार हो, वह माचिस जलाने से जैसे तुरन्त नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार जन्म जन्मान्तरों का अज्ञान-अन्धकार ज्ञान के प्रकाश से तुरन्त (तत्काल ही) नष्ट हो जाता है । मोह का अन्धकार समाप्त होते ही तुरन्त आत्मिक शांति का अनुभव होने लगता है ।

अगर गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास न हो, तो ज्ञान नहीं हो सकता, यह अगले श्लोक में बतलाते है-

अज्ञश्चश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥4/40॥

काव्यानुवाद-

**श्रद्धाहीन जीव अज्ञानी। संशय सहित नष्ट हो प्रानी।**
**महादुखी दोउ लोक नसावे। संशयात्मा सुख नहीं पावै॥**

**मूल अर्थ :** विवेकहीन और श्रद्धा रहित संशययुक्त, परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है । ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है ।

**भावार्थ :** सत्य और असत्य का निर्णय करने की शक्ति (विवेक) यदि किसी की बुद्धि में नहीं और सद्गुरु के प्रति वह श्रद्धालु भी नहीं, बल्कि शंकालु है, तो वह पहले तो ज्ञान को प्राप्त ही नहीं हो सकता, अगर उसने ज्ञान हेतु प्रयत्न भी किया तो सद्गुरु में शंका (जैसे यह सच्चा सद्गुरु है या नहीं) करने के कारण पतित हो जाएगा । उसे इस लोक और परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलेगा, बल्कि माया के चौरासी-चक्र पर चढ़ा हुआ दुःखों में ही अनंत काल तक घूमता रहेगा ।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबन्धन्ति धनंजय ॥ 4/41॥

काव्यानुवाद-

**समता योग, कर्म को भेदै। ज्ञान-कृपान से संशय छेदै।**
**आत्मवंत जीव जो ताता। कर्म उसे बाँध नहीं पाता॥**

**मूलार्थ :** हे अर्जुन, जिसने कर्म योग के द्वारा सब कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है, और जिसने विवेक द्वारा सब संशयों को समाप्त कर लिया है, ऐसे ज्ञानवान व्यक्ति को कर्म नहीं बांधते।

**भावार्थ :** सद्गुरु से परमात्मा को जानने (ज्ञान) के पश्चात् ही परमात्मा को कर्मो का समर्पण करना सम्भव है । इसलिए ज्ञानवान व्यक्ति सब कर्म प्रभु को समर्पित कर देता है । दृढ़ ज्ञान द्वारा जिसके सब संशय भी नष्ट हो गए हों, ऐसे आत्मज्ञानी भक्त को कर्म नहीं बाँधते ।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥4/42॥

क़ाव्यानुवाद–

**अर्जुन मन इस योग से डाटो। ज्ञान कृपान से संशय काटो।**
**यह संशय अज्ञान से जानो। उठो युद्धहित गाण्डीव तानो॥**

**मूलार्थ :** अतः हे अर्जुन ! तू अपने मन के अज्ञानजनित संशय को (सद्गुरु से प्राप्त) आत्म ज्ञान की तलवार से काट दे और कर्म योग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा ।

**भावार्थ :** अर्जुन घर से तो लड़ने के लिए ही चला था, परन्तु युद्धभूमि (कुरुक्षेत्र) में पहुँच कर मन में संशय हो गया कि लड़ूं या न लड़ूं ? और लड़ूंगा तो क्या परिणाम होगा ? इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को कर्म क्षेत्र (जीवन) में अनेक संशय, संदेह, भय और भ्रम हो जाते हैं, जो आत्म ज्ञान की तलवार से ही कट सकते हैं और अपने सद्गुरु की कृपा से ही इस प्रकार दूर हो सकते हैं जिस प्रकार भगवान कृष्ण की कृपा से अर्जुन के हुए।

अब उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी के यज्ञों, दानादि (सेवा) का वर्णन करते हुए कृष्ण कहते हैं कि–

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥17/11॥

काव्यानुवाद–

**कर्तव्य भाव से यज्ञ करावे। फल की इच्छा मन नहि आवे।**
**विधिवत हृदय से प्रकटाता। सात्त्विक यज्ञ वही कहलाता॥**

**भावार्थ :** यज्ञ करना कर्तव्य है इस भाव से फलेच्छा रहित मनुष्यां द्वारा शास्त्रविधि के अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ होता है । यहाँ यज्ञ का अर्थ तन-मन-धन से की जाने वाली सेवा है ।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥12॥

काव्यानुवाद-

**जिसमें दम्भाचरण दिखावा। फल-इच्छा से य करावा।**
**वह यज्ञ राजस पहचाना। इसमें कुछ संशय मत मानो॥**

**भावार्थ :** हे अर्जुन ! जो यज्ञ फल की इच्छा से अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए किया जाता है अथवा केवल लोगों को दिखाने के लिए किया जाए, उसे तू राजस यज्ञ जान ।

विधिहीनमसृटान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥13॥

काव्यानुवाद-

**विधि विहीन अरु नहि अनदाना ! मंत्रहीन नहि भेंट सुजाना॥**
**श्रद्धा भाव नहीं कुछ प्यारे। यज्ञ तामसी संत पुकारे॥**

**भावार्थ :** जो यज्ञ शास्त्रविधि से रहित, अन्नदान के बिना ही, बिना वेद मंत्रों, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह तामस यज्ञ कहलाता है ।

अब तप भी तीन प्रकार के आगे बतलाते है-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥14॥

काव्यानुवाद-

**देव विप्र गुरु ज्ञानी पूजा। सरल पुनीत भाव नहि दूजा।**
**ब्रह्मचर्य, नहि जीव सतावे। सो शारीरिक तप कहलावे॥**

**भावार्थ :** तप तीन प्रकार का होता है- 1. शरीर का, 2. वाणी का, 3. मन का । इस श्लोक में पहला यानी शरीर का तप बतलाया गया है ।

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन, और जीवनमुक्त महापुरुषों का पूजन करना जल, मिट्टी, साबुन आदि से शरीर को पवित्र करना, शारीरिक क्रियाओं को सरल और निष्कपट रखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना

और शरीर से किसी को भी किसी तरह का कष्ट न देना- यह शरीर का तप है ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥15॥

काव्यानुवाद-

**जिसको सुन उद्वेग न आए। सत्य मधुर, हित–बात सुनाए।**
**स्वाध्याय नित करता जाए। वह वाणी का तप कहलाए॥**

**भावार्थ :** उद्वेग (पिंच) न करने वाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वचन बोलना, स्वाध्याय करना और (सद्गुरु प्रदत्त) प्रभु नाम का जप (स्मरण) करना–यह वाणी का तप है ।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥16॥

काव्यानुवाद-

**मन मुदिता अरु शांत स्वभावा। हरि–चिंतन नित निग्रह–भावा।**
**सदा सरल नहि मन–कुटिलाई। मन का तप यह जानो भाई॥**

**भावार्थ :** मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मन का निग्रह (वश में करना) और सोच–विचार (भावों) की शुद्धि (यानी परनिन्दा, ईर्ष्या, क्रोध, शत्रुता, विषय–चिंतन, नारी–पुरुष, धन आदि के विचार मन में न आने देना ही भावों की शुद्धि है) - यह मन का तप है ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥17॥

काव्यानुवाद-

**तन–मन–वाणी का तप प्यारे। त्रिविध यह श्रद्धा से धारे।**
**शांतमना जो फल नहि चाहे। ऐसा तप सात्विक कहलाए॥**

**भावार्थ :** उपर्युक्त तीन प्रकार का तप यदि परम श्रद्धा से युक्त, फलेच्छा से रहित मनुष्यों के द्वारा किया जाता है, तो वह तप सात्विक कहलाता है ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥18॥

काव्यानुवाद–

**मान प्रतिष्ठा पूजा–कारण। तप तपते नहि दम्भ निवारण।**
**उसको तुम राजस तप जानो। उसका फल क्षण भंगुर मानो॥**

**भावार्थ :** जो तप अपने सत्कार मान और पूजा के लिए अथवा दूसरों को दिखाने के भाव से किया जाता है, वह इस लोक में अनिश्चित और नाशवान फल देने वाला तप राजस होता है ।

अब आगे तामस तप के लक्षण बतलाते हैं–

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥19॥

काव्यानुवाद–

**जिद्दी मूढ़ तपे तप जोई। मन–वाणी–तन–पीड़ा होई।**
**जिसका लक्ष्य अन्य–अपकारा । तामस तप वह कुंति कुमारा॥**

**भावार्थ :** जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, अपने को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को कष्ट देने के लिए किया जाता है, वह तप तामस होता है । अब दान (धन की सेवा) भी तीन प्रकार का बतलाते हैं–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देश काले च पात्रे च तद्दानं राजसं स्मृत् ॥20॥

काव्यानुवाद–

**निज कर्तव्य जान जो पारथ। करें दान, बिन मान–सुवारथ।**
**देश काल अरु पात्र विचारें। उसको सात्विक दान पुकारें॥**

**भावार्थ :** दान देना कर्तव्य है इस भाव से जो दान प्रत्युपकार (बदले) की भावना से रहित होकर देश, काल और सुपात्र के प्राप्त होने पर दिया जाता है, वह दान सात्विक होता है ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥21॥

काव्यानुवाद-

**स्वार्थ भाव यदि मन में आए। छोटा दान बड़ा फल चाहे।**
**मन में कष्ट खर्च का मानें। उसको राजस दान बखानें॥**

**भावार्थ :** जो दान, बदले में कुछ पाने के लिए अथवा फल की इच्छा से 'देना पड़ रहा है' इस भाव से दुखपूर्वक दिया जाता है, वह दान राजस कहलाता है ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥22॥

काव्यानुवाद-

**समुचित देश–काल नहि जाना। जो कुपात्र को देते दाना।**
**नहिं सत्कार, करें अपमाना। उसको जान तामसी दाना॥**

**भावार्थ :** जो दान, बिना सत्कार के तथा अवज्ञापूर्वक (दान लेने वाले का अपमान करके) अयोग्य देश और काल में कुपात्र को दिया जाता है, वह दान तामस होता है । कुपात्र की की गई सेवा भी व्यर्थ ही होती है । अतः संत–सेवा करना ही कर्तव्य है ।

## 11– सहज अवस्था

ध्यान की दृढ़ और अटूट अवस्था समाधि कहलाती है, जो ज्ञान के बाद ही संभव है । जो लोग यह मानते है कि एकांत में आंखें बंद करके बैठना ही समाधि है, वे वास्तविकता से दूर हैं क्योंकि समाधि के विषय में अर्जुन के प्रश्न और भगवान कृष्ण के उत्तर इसे अन्य प्रकार ही स्पष्ट करते हैं । अर्जुन ने पूछा– समाधिस्थ नर कैसे बोले ? किस विधि बैठे ? किस विधि डोले ? (गीता 2/54) इससे सिद्ध होता है कि समाधिस्थ व्यक्ति बोलता है, चलता–फिरता और उठता भी है । यानी सब कार्य करता हुआ भी आदमी समाधि में रह सकता है ।

वास्तविकता तो यह है कि सहज अवस्था वाले जीवनमुक्त महापुरुष ही समाधिस्थ कहे जाते हैं । कर्तव्य कर्म करते हुए भी जिनका ध्यान प्रभु परमात्मा में अडोल रूप में बना रहता है, वे सदैव समाधि में ही रहते हैं ।

जो महापुरुष सुख में हरषाते नहीं और दुःख में घबराते नहीं, जिनके मन में राग, द्वेष, भय और क्रोध के भाव नहीं आते, वे व्यक्ति समाधि में ही जानने चाहिए । जिसका सुख साधन से मोह नहीं और दुख साधन से द्रोह नहीं, वह समाधिस्थ ही है । जो अपने मन और इन्द्रियों को वश में करके ही राग और द्वेष के बिना ही विषयों (शब्द स्पर्श रूप रस गंध) का भोग करता है, वही योगी परमानन्द पाता है । विषयों का संयमित भोग बुरा नहीं, बल्कि विषयों का मन से चिंतन बुरा है । शरीर तो माया का अंश है, माया में ही रहेगा, किन्तु मन में माया नहीं आनी चाहिए। जैसे नाव तो पानी में रहेगी ही, लेकिन पानी नाव में आना दुखद है । अतः मन से भोगों का चिंतन न करें क्योंकि भोग चिंतन से राग (आसक्ति या लगाव) राग से काम, काम से क्रोध (कामना

में विघ्न पड़ने से ही क्रोध होता है) क्रोध से मोह, मोह से स्मरण शक्ति का नाश, और स्मृति नाश से ही सर्वनाश होता है ।

यह सर्वनाश का आसुरी मार्ग है, जो भोग चिंतन से शुरु होता है और सर्वनाश पर पहुँचता है । दूसरा मार्ग देव मार्ग है, समाधि-मार्ग है जो सत्संग के हरि चिंतन से शुरु होकर जीवनमुक्ति की सहज अवस्था पर पहुँचता है-

यानी सत्संग से मन में भोग चिंतन के बजाय हरि चिंतन होता है, हरि चिंतन से संसार (माया) का लगाव समाप्त होता है, यानी असंगता आती है । असंगता से मोह समाप्त होता है। मोह समाप्ति से निराकार ब्रह्म में ध्यान दृढ़ होता है और ध्यान की दृढ़ता से ही जीवन मुक्ति या समाधि अवस्था प्राप्त होती है । ऐसे महापुरुष ही स्थिर बुद्धि या स्थित प्रज्ञ कहलाते हैं।

समाधि के विषय में अर्जुन प्रश्न करते है कि-

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥54॥

काव्यानुवाद-

**स्थिर बुद्धि का क्या लच्छण। समाधिस्थ जो पुरुष विचच्छण।**
**ज्ञानवान नर कैस बोले? कैसे बैठे? कैसे डोले?॥**

**मूलार्थ :** अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे केशव, परमात्मा को प्राप्त हुए समाधियुक्त महापुरुष की पहचान क्या है ? उसका बोलना, बैठना और चलना कैसा होता है ?

**भावार्थ :** अर्जुन के इस प्रश्न का भाव यही है कि ब्रह्मज्ञानी शकल से तो पहचाना नहीं जा सकता, क्योंकि आकृति तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनों की ही एक सी होती है, अतः उसके कार्यो में क्या विशेषता होती है ? यह बतलाईए ।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥55॥

काव्यानुवाद–

**तज मन की सब कामना, आतमरति जो होय।**
**स्थिरमति तब है वही, आत्मतुष्ट नर जोय॥**

**मूलार्थ :** भगवान कृष्ण बोले, हे अर्जुन, जब कोई मन में रहने वाली सभी कामनाओं को भली भांति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब वह 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है ।

**भावार्थ :** ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्मध्यानी को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है और उसकी पहचान यह बतलाई गई है कि जब उसका मन कामनाहीन (संकल्प–विकल्प से रहित शांत) होता है, तभी वह स्थितप्रज्ञ है, हर समय नहीं ।

अगले दो श्लोकों में अब उसके बोलने की विशेषताएं बतलाते है–

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयकोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥56॥

काव्यानुवाद–

**दुख में जो नर नहीं घबराए। सुख में भी जो ना हर्षाए॥**
**राग, कोध, भय जिनके नाही। स्थिरबुद्धि वही जग मांही॥**

**मूलार्थ :** जो दुखों में घबराता नहीं, सुखों में हर्षित नहीं होता (दुख–सुख में उसका मन एक समान रहता है), जिसके राग (मोह) भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है ।

**भावार्थ :** शान्त मन से मधुर वचन बोलना स्थितप्रज्ञ की सबसे बड़ी पहचान है । उसकी वाणी में घबराहट, अति हर्ष, मोह भय और क्रोध कभी भी दिखाई नहीं देते ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥57॥

काव्यानुवाद-

**जिसका नहीं किसी से मोहा। दुख-साधन से करे न द्रोहा।**
**सुख-साधन से करे न प्रीती। स्थिर बुद्धि की यह रीति॥**

**मूलार्थ :** जो व्यक्ति (एक प्रभु के अलावा) सब जगह स्नेह रहित है और शुभ को पाकर प्रसन्न नहीं होता, तथा अशुभ को पाकर द्वेष (वैर-भाव) नहीं करता, उसकी बुद्धि (निराकार-ब्रह्म) में स्थिर है ।

**भावार्थ :** प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, अनुकूल-प्रतिकूल का जिसकी मानसिक शांति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वही स्थिर बुद्धि है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥58॥

काव्यानुवाद-

**ज्यों कछुआ निज अंग समेटे। त्यों इन्द्रिय नहि विषय लपेटे।**
**विषय-वासना सब मिट जाए। तब नर स्थिरबुद्धि कहाए॥**

**मूलार्थ :** और जैसे कछुआ सब तरफ से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी तरह जब वह इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब तरह से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि (ब्रह्म में) स्थिर है (ऐसा समझना चाहिए) ।

**भावार्थ :** जब इन्द्रियां आसक्तिपूर्ण भोगों से, और मन भोग-चिन्तन से हटे हुए हों, तब बुद्धि ब्रह्म में स्थिर होती है ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं द्रष्टवा निवर्तते ॥59॥

**निराहार भी विषय हटाए। मन का रस पिर भी रह जाए।**
**ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरस पीता। विषयों को मन से तज देता॥**

**मूलार्थ :** इन्द्रियों द्वारा विषयों को छोड़ने वाले व्यक्ति के केवल विषय तो छूट जाते हैं, परन्तु विषयों (भोगों) का लालच मन से नहीं छूटता, परन्तु ब्रह्मदर्शी का तो विषय-लालच भी परमात्मा का साक्षात्कार (मिलन) करके छूट जाता है ।

**भावार्थ :** जो लोग घर-गृहस्थ छोड़कर वन-पर्वतों पर चले जाते है, या निवृत्तिमार्गी होकर भिक्षा पर निर्वाह करते हैं, जैसी कि अर्जुन ने भी अपनी इच्छा प्रकट की थी 2/5 ऐसे व्यक्तियों की इन्द्रियों के विषय तो छूट जाते हैं, परन्तु तत्वज्ञान न होने के कारण मन से विषयों का लालच (आकर्षण) खत्म नहीं होता। इसके विपरीत तत्वदर्शी महापुरुष गृहस्थ में रहता हुआ भी भोगों का लालच छोड़ देता है । उल्लेखनीय है कि भोगों की अपेक्षा भोगों का लालच, भोग-चिन्तन अधिक दुखद और हानिकारक है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥60॥

काव्यानुवाद-

**इन्द्रियों का अति प्रबल प्रभावा। कुन्तिकुमार कठोर सुभावा।**
**यत्नशील जो बुद्धिमान नर। उनका भी मन लेती हैं हर॥**

**मूलार्थ :** हे अर्जुन, आसक्ति (लालच) का नाश न होने के कारण ये मथनशील स्वभाव वाली इन्द्रियां बुद्धिमान पुरुषों के मन को भी जबरदस्ती हर लेती है, अर्थात् उनके मन में भी भोगों का लालच पैदा कर देती है ।

**भावार्थ :** जब बार-बार कोई क्रिया दोहराई जाती है, उसे मथना कहते हैं । इन्द्रियों को मथनशील इसलिए कहा गया है, क्योंकि ये बार-बार विषयों का लालच देकर मन को प्रभु में स्थिर नहीं होने देतीं ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥61॥

काव्यानुवाद-

**उन सबका संयम कर आवे। फिर मुझमें जो ध्यान लगावे॥**
**जिसकी इन्द्रिय वश हो जाए। वह नर स्थिरबुद्धि कहाए॥**

**मूलार्थ :** अतः साधक को चाहिए कि वह सब इन्द्रियों को वश में करके मेरा (सत्गुरु का) ध्यान करे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं, उसी की बुद्धि (परमात्मा में) स्थिर होती है ।

**भावार्थ :** सब इन्द्रियों को वश में करके, सद्गुरु में ध्यान लगाने से परमात्मा में बुद्धि स्थिर होती है । यह नहीं भूलना चाहिए कि यहां कृष्ण ने यह कहा है कि मेरे में ध्यान लगावे, तो इसका मतलब यह है कि प्रत्येक साधक को हर युग में अपने गुरु-गोविन्द का ध्यान करना चाहिए । कहा भी है- 'ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति' । यह भी उल्लेखनीय है कि सद्गुरु शरीर नहीं, ज्ञान (ब्रह्म) होता है । अतः ब्रह्मभाव से गुरु का ध्यान करना ही यहां कहा गया है, क्योंकि ध्यान निराकार की अपेक्षा साकार पर ही अधिक टिकता है । (गीता 12/5-6)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गत्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥62॥
क्रोधाभ्दवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥63॥

काव्यानुवाद-

**जो विषयों का चिंतन करता । संगदोष तब मन में धरता।**
**संग हुआ तो काम सतावे । काम से कोध शीघ्र उपजावे॥**

**क्रोध से मोह-भावना आती। जिससे स्मृति नष्ट हो जाती।**
**स्मृति-नाश तब बुद्धि नसावे । बुद्धि-नाश सब नाश करावे॥**

**मूलार्थ :** विषयों का चिंतन करने वाले व्यक्ति की उन विषयों में आसक्ति (आकर्षण या लालच) हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना पैदा होती है, कामनाओं में विघ्न पड़ने से (विघ्नकारियों पर) क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव (मूर्खता) उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भाव से स्मृति (याददास्त) में भ्रम हो जाता है, स्मृति-भ्रम से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से व्यक्ति अपनी (आनन्दपूर्ण) स्थिति से गिर जाता है । सर्वनाश को प्राप्त हो जाता है ।

**भावार्थ :** विषयों से भी अधिक हानिकारक विषयों का चिंतन (सोच) है । व्यक्ति को वही सर्वनाश तक ले जाता है । विषय-चिंतन से सर्वनाश तक पहुँचने का क्रम इस प्रकार बतलाया है- विषय-चिंतन > संग (आसक्ति) > कामना > क्रोध > मूढ़ भाव > स्मृतिभ्रम > बुद्धिनाश > सर्वनाश ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥64॥

काव्यानुवाद-

**जिसने मन अपने वश कीना। इन्द्रियगण जिसके आधीना।**
**राग-द्वेष बिनु विषय-भोगी। परमानंद पाव वह योगी॥**

**मूलार्थ :** परन्तु अपने अधीन किए हुए मन वाला व्यक्ति अपने वश में की हुई, राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ भी अन्त-करण (हृदय) की प्रसन्नता को प्राप्त होता है, यानी ब्रह्मानंद को प्राप्त करता है ।

**भावार्थ :** जो स्वयं इन्द्रियों के वश में है, वह व्यक्ति अनुचित रूप से भी भोग-संग्रह करता और विषयों को भोगता हुआ राग-द्वेष के कारण सुख-दुख के चक्र पर चढ़ा रहेगा, परन्तु जिसकी इन्द्रियां और मन उसके वश में हैं, वह यथायोग्य (यथोचित) विषयों को भोगता हुआ भी, राग-द्वेष-मुक्त होकर, अपनी बुद्धि परमात्मा में स्थिर रख सकता है ।

इन्द्रियां तो विषयों में रह सकती हैं, परन्तु इन्द्रियों के विषय मन में नहीं आने चाहिएं । जैसे नाव तो पानी में भले ही रहे, परन्तु पानी नाव के अन्दर आना भंयकर है ।

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥65॥

काव्यानुवाद-

**यह प्रसाद सर्व सुखदाता। दु:ख और हानि से त्राता।**
**ध्यान जनित आत्मिक सुख पाए। वह जन स्थिरबुद्धि कहाए॥**

**मूलार्थ :** और यह आध्यात्मिक सुख (ब्रह्मनंद) होने पर, सारे दुख समाप्त हो जाते हैं और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब तरफ से हट कर एक परमात्मा में ही भली भांति स्थिर हो जाती है ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ॥
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥66॥

काव्यानुवाद-

**यह नहीं बुद्धि अयोगी पाए। आस्तिक भाव न उसमें आए॥**
**बिना भाव मन शान्ति न आए। शान्ति हीन सुख कैसे पाए?॥**

**मूलार्थ :** मन और इन्द्रियों को जिसने वश में नहीं किया, उसमें परमात्मा के प्रति दृढ़ विचार नहीं होता, दृढ़ विचार के अभाव में आस्तिक भाव भी नहीं होता, आस्तिक भाव बिना शांति नहीं मिलती और अशान्त को सुख कहाँ ?

**भावार्थ :** चित्त में शांति न हो तो कहीं भी, कभी भी और किसी उपाय से भी मनुष्य को सच्चा सुख नहीं मिलता । विषयों और इन्द्रियों के संयोग में तथा निद्रा आलस्य और प्रमाद में जो सुख का भ्रम होता है, वह तो दुख का कारण होने से दुख ही है ।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥67॥

काव्यानुवाद-

**इन्द्रियां मन को लेकर उड़तीं। दौड़ दौड़ विषयों से जुड़तीं।**
**इन्द्रियां मति का नाश कराएं। यथा वायु जल नाव डुबाएं॥**

**मूलार्थ :** क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को हवा हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिसके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त व्यक्ति की बुद्धि को हर लेती है ।

**भावार्थ :** जैसे आंख ने कोई सुन्दर रूप देखा और अपने विषय (रूप) की तरफ आंख आकर्षित हो गई । अगर मन साथ न दे, तो देखा हुआ रूप भी अनदेखा रहेगा । परन्तु यदि मन भी साथ मिल गया तो समझो तूफान ने मल्लाह को भी भ्रमित कर दिया। अब तो नाव को भवसागर में डूबने से कोई नहीं बचा सकता। परन्तु जैसे चतुर मल्लाह नाव चलाने में वायु की भी सहायता ले लेता है, उसी प्रकार जो मन चतुर है और प्रभु-ध्यान में लगा रहता है, उसके लिये इन्द्रियां और उनके विषय भी सहायक बन जाते हैं । यही कारण है कि गुरुभक्त महापुरुषों की इन्द्रियां बाधक नहीं, साधक बन जाती है । कहा भी है-

नैन जब देखें तब तेरा ही अनूप रूप ।
और कोई रूप इन अँखियों में आए ना ।
जीभ जब बोले तब तेरे ही गुणों को गाए।
गुण तेरे तज मेरी जीह कुछ गाए ना ।
कान जब सुनें तब तेरी ही बड़ाई सुनें ।
और कोई बात कोई कानों को सुनाए ना ।
मेरा मन मधुकर मधु पीए झूम झूम ।
चरण कमल तज 'हंस' कहीं जाए ना ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥68॥

काव्यानुवाद–

**इन्द्रियां सब विषयों से मोड़े। निराकार से नाता जोड़े।**
**स्थिरबुद्धि वही जन जानो। हे अर्जुन यह निश्चय मानो॥**

**मूलार्थ :** अतः हे अर्जुन, जिसकी इन्द्रियां विषयों से सर्वथा हटी हुई है, उसी की बुद्धि स्थिर कही जाती है ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ॥
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥69॥

काव्यानुवाद–

**मोह निसा सब सोवनहारे। ज्ञानी जागें सदा यहां रे।**
**जेहि परमारथ जागें जोगी। उसमें सदा सुप्त बहु भोगी॥**

**मूलार्थ :** सब प्राणियों के लिए जो रात्रि के समान है, उस निराकार ब्रह्म में ब्रह्मज्ञानी जागता है और जिन नाशवान भौतिक भोग विलासों में सब प्राणी जागते हैं, वह तत्वदर्शी मुनि के लिए रात्रि के समान है ।

**भावार्थ :** सब प्राणी प्रायः माया(रूप–नाम–क्रिया) के अन्धकार (अज्ञान) में जागते हैं और निराकार ब्रह्म के प्रकाश में सोते हैं, जबकि ज्ञानी महापुरुष निराकार परमात्मा के उजाले में जागते हैं और भौतिक माया के सुखों में सोते है अर्थात् उनमें कोई रूचि नहीं रखते । जैसे उल्लू दिन की रोशनी में भी अपनी आंखें बन्द करके सूर्य को नहीं देख पाता, परन्तु अंधकार में रूचि रखता और जागता है ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशान्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशान्ति सर्वे स शान्तिमाप्रोति न कामकामी ॥70॥

काव्यानुवाद–

**जैसे शान्त सिंधु में जाकर। फिर नहीं लौटें सरित समाकर।**
**ज्ञानी में सब काम समाएं। कामी सुख शान्ति नहीं पाएं ॥**

**मूलार्थ :** जैसे असंख्य नदियों का सब तरफ से आया हुआ जल, अचल प्रतिष्ठा वाले शान्त समुद्र में गिरता हुआ भी, उसको विचलित नहीं करता, अपितु उसमें समा जाता है, उसी तरह सब भोग जिस ब्रह्मज्ञानी में किसी तरह का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही व्यक्ति परमशान्ति (ब्रह्मानंद) को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं ।

**भावार्थ :** अज्ञानी नदी की तरह होता है । थोड़ी वर्षा हो गई या कोई नाला आ मिला तो तूफान आ गया, बाढ़ आ गई । परन्तु ब्रह्मवेत्ता महासागर की तरह है, क्योंकि अनेक कामनाएं, विषय, मूर्खों के कटु वचन आदि मिलकर भी उन्हें विचलित नहीं कर पाते, बल्कि वे सब उसी में समा जाते हैं । ऐसे ही ज्ञानवान महापुरुषों को परम शान्ति (आध्यात्मिक आनंद) मिलता है, भोगों की कामना करने वालों को नहीं ।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छिति ॥71॥

काव्यानुवाद–

**जिसने सकल कामना त्यागी। आत्म तत्व में नित लौ लागी।**
**निस्पृह निर्मम निरहंकारा। सुख शान्ति सो पाव पियारा॥**

**मूलार्थ :** जो व्यक्ति सब कामनाओं को त्याग कर ममता, अहंकार और वासना से रहित हुआ विचरता है, वही शांति को प्राप्त है।

एषा ब्रह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थितत्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥72॥

काव्यानुवाद–

**यह ब्रह्म बुद्धि जो पावै। फिर पारथ नहीं मोह सतावै॥**
**अन्तकाल में भी कोई पाए। वह भी भवसागर तर जाए॥**

**मूलार्थ :** हे अर्जुन यह ब्रह्म को प्राप्त हुए ज्ञानी महापुरुष की स्थिति है । इसको प्राप्त करके ज्ञानी कभी (माया में) मोहित नहीं

होता और अंतकाल में भी इस ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त होकर जीवनमुक्त हो जाता है (निर्वाण प्राप्त कर लेता है) ।

**भावार्थ :** तत्व का ज्ञान प्राप्त करके जो शीघ्र ही ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त कर लेता है, उसके तो कहने ही क्या, परन्तु यदि कोई अन्तकाल में, यानी मृत्यु के निकट आने पर भी, इस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर इसमें स्थित हो जाता है, वह भी जीवनमुक्ति (सहज अवस्था) का आनंद प्राप्त कर लेता है और आवागमन के चक्र से छूट जाता है । यही समाधि अथवा सहज अवस्था है ।

Publication Department
Sant Nirankari Mandal, Delhi-110009